वर्ष ४२] उपासना-परिशिष्टाङ्क [अङ्क २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,५०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र २०२४, मार्च १९६८

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ९.०० विदेशमें १३.२५ (१५ शिलिंग)

जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ५० पै० विदेशमें ८० पै० (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

अष्टादशभुजा दुर्गा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

वर्ष ४२ } गोरखपुर, सौर चैत्र २०२४, मार्च १९६८ { संख्या ३
पूर्ण संख्या ४९६

जय अष्टादशभुजा दुर्गे

जय अष्टादशभुजाधारिणी प्रति कर प्रहरणधारिणि जय ।
जय सर्वाङ्ग-आभरणधारिणि सुन्दर त्रिनयनधारिणि जय ॥
जय सुविशाल सिंह-आरोहिणि राक्षसदल-संहारिणि जय ।
जय भीषण भवभीति-निवारिणि निज-जन-संकटहारिणि जय ॥
जय दुर्गे मोहार्णवतारिणि परम सुमङ्गलकारिणि जय ॥

मार्च १—

कल्याण

याद रक्खो—सारा चराचर जगत् एक ही भगवान्की अभिव्यक्ति है। एक ही भगवान् इन सबके रूपमें प्रकट हो रहे हैं तथा सबमें नित्य एक ही आत्मा विराजमान है। जैसे एक ही शरीरके पृथक्-पृथक् बहुत-से अङ्ग-उपाङ्ग होते हैं और उनके नाम तथा काम भी अलग-अलग होते हैं, परंतु सबमें आत्मा एक ही होता है। उनमेंसे किसीका भी सुख-दुःख आत्माका ही सुख-दुःख होता है; वैसे ही सारे विश्वके सब चराचर प्राणी एक ही भगवान्के अङ्ग-उपाङ्ग हैं। उसीके सनातन अभिन्न अंश हैं। यह समझकर सभीको सुख पहुँचाओ, सभीका हित करो और सभीको अपने-अपने कार्यमें सुखपूर्वक लगे रहने दो।

याद रक्खो—जब तुम्हारे अंदर सबके प्रति आत्म-भावना होगी—एकात्मताका अद्वैत-भाव होगा, तब तुम्हारी अहंता और ममता ('मैं' और 'मेरा') सीमित नहीं रहेगी। अतएव सहज ही तुम देह-बुद्धिसे छूट जाओगे, फिर इस सीमित 'मैं'-'मेरे'के लिये दूसरोंको पृथक् समझकर उनका कभी अहित नहीं चाहोगे, उनको दुःख देना नहीं चाहोगे। वरं उनका हित तथा सुख तुम्हारा ही हित-सुख है—यह समझकर सबके हित तथा सुखकी ही बात सोचोगे और वही करोगे। फिर तुम्हारे अंदर सीमित इच्छा नहीं रहेगी, न कहीं किसी विषयमें राग (आसक्ति) रहेगी, अपनी हानिका भय नहीं रहेगा और कामनापर चोट लगनेसे उत्पन्न होने-वाले क्रोधका कभी उदय नहीं होगा। तुम 'वीत-राग-भय-क्रोध' होकर भगवत्स्वरूपको प्राप्त हो जाओगे। वस्तुतः जो 'वीत-राग-भय-क्रोध' है वही स्थितप्रज्ञ है और जो 'विगतेच्छाभयक्रोध' है वही सदा 'मुक्त' है।

याद रक्खो—राग, इच्छा, भय, क्रोध तभी होते हैं, जब तुम अपनेको 'मैं'-'मेरे'की छोटी-सी सीमामें आबद्ध कर रखते हो। तभी अपनेको सबसे पृथक्, अपने 'स्व' को एक छोटे दायरेमें, अपने 'स्वार्थ'को एक छोटे घेरेमें लाकर, दूसरे सबको पराया—दूसरा मानने लगते हो, फिर छोटे-छोटे अभिमान—शरीरका, देशका, जातिका, वर्गका, मतका, प्रान्तका, भाषाका, मान-प्रतिष्ठाका, सुख-आरामका—तुम्हें क्रमशः संकुचित-से-संकुचित सीमामें ले जाकर भयभीत कर देते हैं। तुम अपने माने हुए इन पदार्थ-परिस्थितियोंकी रक्षाके लिये, दूसरे इनका विनाश कर देंगे—इस प्रकारकी कल्पना करके सबपर संदेह करने तथा सबसे भयभीत होने लगते हो और बदलेमें दूसरे भी इसी प्रकारकी परिस्थितिमें परिणत होकर तुमपर संदेह करने और तुमसे डरने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि परस्पर शङ्का बढ़ती है, आँखें बदल जानेसे दोष दिखायी देने लगते हैं और ईर्ष्या, द्वेष, घृणा तथा वैर बढ़ जाते हैं जो हिंसाके रूपमें प्रकट होकर ऐसे अवाञ्छनीय कुकर्म करा बैठते हैं, जिनसे अपना तथा दूसरोंका एवं बिना जाने-पहचाने हुए असंख्य निर्दोष प्राणियोंका बहुत बड़ा विनाश हो जाता है। इससे मानव-जीवनकी सफलतामें ही केवल बाधा नहीं पड़ती; जीवनभर अशान्ति, दुःख तथा अभावजनित संताप सहते हुए और अन्तिम श्वासतक भीषण चिन्ताकी आगमें जलते हुए मरना पड़ता है एवं मरनेके बाद कष्ट-क्लेशमयी आसुरी योनि तथा भीषण यन्त्रणादायक नरकोंकी प्राप्ति होती है!

याद रक्खो—कर्मके फलसे प्राणी बच नहीं सकता। अतएव सबमें एक भगवान् अथवा एक ही आत्माको देखकर सबका हित करो, सबको सुख पहुँचाओ, सबको सम्मान-दान करो, सबको प्रेमदान करो, सबको अभय प्रदान करो। कोई भी प्राणी तुम्हारे द्वारा कभी न

अपमानित हो, न सताया जाय, न भय प्राप्त करे, न उद्विग्न हो और न किसी प्रकार अहित प्राप्त करे। अपने विचार-व्यवहार-कार्य—सबको विनम्रता, मधुरता, प्रेम, सत्य तथा हितसे भरे रक्खो। तुम्हारा मङ्गल होगा, दूसरोंका मङ्गल होगा, विश्वका मङ्गल होगा; क्योंकि इसीसे विश्वात्मा भगवान्‌की सच्ची पूजा होगी।

'शिव'

धर्मकी आवश्यकता

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य)

'धरति विश्वं यः स धर्मः', 'ध्रियतेऽधःपतनपुरुषोऽनेनेति धर्मः', 'ध्रियते जनैरिति धर्मः', 'धरति लोकानिति धर्मः' 'धरतीति धर्मः'—इत्यादि 'धर्म' शब्दकी शाब्दिक व्युत्पत्तियाँ हैं। इनका भावार्थ यह है जो विश्वको धारण करे, वह धर्म है। जो निकृष्ट योनिमें गिरनेवाले पुरुषकी रक्षा करे, वह धर्म है। जो मनुष्योंके द्वारा धारण किया जाता है, वह धर्म है। जो लोकोंको धारण करे, वह धर्म है। और जो धारण करे, वह धर्म है।

धर्मका लक्षण अनेक धर्मग्रन्थोंमें इस प्रकार लिखा है—

श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः।

(वा० ५०)

'श्रुति और स्मृतिमें जो विधान किया गया है, वह धर्म कहलाता है।'

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।

(पूर्वमीमांसा १ । १ । २)

'वेदमें विधिवाक्यके द्वारा जो बतलाया गया है, वह धर्म है।'

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन १ । २)

'जिससे ऐहलौकिक अभ्युदय और परम कल्याण (मोक्ष) की प्राप्ति हो, वह धर्म है।'

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।

(श्रीमद्भागवत ६ । १ । ४०)

'वेदने जिन कर्मोंका विधान किया है, वे धर्म हैं और उनके विपरीत अधर्म हैं।'

श्रुतिस्मृतिविहितः श्रेयःसम्पादको धर्मः।

'वेद और स्मृतिसे विहित मोक्षको देनेवाला धर्म कहलाता है।'

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

(महाभारत, कर्णपर्व ६९ । ५८)

'सृष्टिको धारण करनेसे धर्म कहा जाता है। धर्म प्रजाको धारण करता है। जो धारणके साथ रहे, वह धर्म है, यह निश्चय है।'

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनुस्मृति २ । १२)

'वेद, स्मृति (धर्मशास्त्र), सदाचार और अपनी आत्माकी प्रसन्नताके अनुसार कार्य करना—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण (धर्मका बोधक) कहा गया है।'

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनुस्मृति ६ । ९२)

'धृति, क्षमा, दम (अपने मनको वशमें रखना), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (बाह्य और आभ्यन्तरकी पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह (इन्द्रियोंको वशमें रखना), धी (बुद्धि), विद्या (अध्यात्मविद्या[1]), सत्य (वाणी और मनकी यथार्थता[2]) और अक्रोध (क्रोध न करना)—ये दस धर्मके लक्षण हैं।'

---

१. 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' (गीता १० । ३२)

२. जैसा देखा, सुना और समझा, वैसा ही मनमें धारण करना तथा वाणीसे व्यक्त करना ही वाणी और मनकी यथार्थता है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति, आचा० १२२)

'अहिंसा (प्राणिमात्रकी तन-मन-वचससे हिंसा न करना), सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, दान, दम, दया और क्षान्ति (अपनी हानि होनेपर भी क्रोध न करना)—ये सभीके लिये धर्मके साधन कहे गये हैं ।'

श्रीमद्भागवत (७ । ११ । ८–१२) में धर्मके तीस प्रकारके लक्षण कहे गये हैं ।

इसी प्रकार और भी श्रुति-स्मृतिके ग्रन्थोंमें धर्मके विभिन्न लक्षणोंका महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है ।

धर्म दो प्रकारका कहा गया है—एक सामान्य धर्म और दूसरा विशेष धर्म । सामान्य धर्म सबके लिये ग्राह्य है और विशेष धर्म सबके लिये ग्राह्य नहीं है । विशेष धर्मके सम्पादनके लिये वर्ण और आश्रमका विशेष बन्धन रक्खा गया है । इसलिये प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रमके लिये पृथक्-पृथक् धर्म कहे गये हैं । अतः मनुष्यको अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार विशेष धर्मका पालन करना चाहिये ।

हमारे धर्माचार्योंने अपने-अपने धर्मग्रन्थोंमें सामान्य और विशेष—धर्म (इन दोनों धर्मों)का उल्लेख किया है । धर्माचार्योंके द्वारा जो सामान्य और विशेष धर्म कहे गये हैं, वे मानवमात्रके लिये बहुत ही उपयोगी और कल्याणकारी हैं । यदि मनुष्य धर्माचार्योंके बतलाये हुए धर्मके अनुसार अपना धर्ममय जीवन बना ले तो उसका यह लोक और परलोक दोनों ही सुखप्रद बन सकते हैं ।

अनादिकालसे भारतवर्ष धर्म (सनातन-धर्म) का प्रधान केन्द्र कहा जाता है । इसका मुख्य कारण यह है कि भारतवर्षमें ही वेदोक्त धर्मका यथार्थतः पालन होता है । वेदोक्त धर्मको सत्य और सनातन कहा जाता है । अतः वह 'सनातनधर्म' नामसे व्यवहृत है । वेदोक्त धर्म साक्षात् भगवान्का स्वरूप है । इसीलिये वेदोक्त धर्मको श्रेष्ठ धर्म कहा गया है—

'वेदोक्तः परमो धर्मः' (महाभारत, वनपर्व, २०७ । ८३)

धर्मका अद्भुत प्रभाव है । धर्मके प्रभावसे यह ब्रह्माण्ड स्थित है । धर्मके प्रभावसे देवगण अपना-अपना कार्य कर रहे हैं । धर्मके प्रभावसे मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक एवं शारीरिक तथा मानसिक उन्नति प्राप्त करता है । धर्मके प्रभावसे मनुष्य ऐहलौकिक अभ्युदय (ऐहिक सुख) और पारलौकिक कल्याण (मोक्ष) प्राप्त करता है । धर्मके प्रभावसे मनुष्य अद्भुत आत्मशक्ति प्राप्त करता है । धर्मके प्रभावसे मनुष्यका जीवन तपोमय और ज्ञानमय बन जाता है । धर्मके प्रभावसे मनुष्यका चित्त पवित्र और शक्तिसम्पन्न हो जाता है । धर्मके प्रभावसे मनुष्य 'महापुरुष' बन जाता है । धर्मके प्रभावसे मनुष्यकी समस्त साधना और समस्त कामनाएँ परिपूर्ण हो जाती हैं । धर्मके प्रभावसे मनुष्य सुख-संतोषकी प्राप्ति करता है । धर्मके प्रभावसे मनुष्यका कभी पतन नहीं होता । धर्मके प्रभावसे मनुष्य सर्वत्र विजय प्राप्त करता है और धर्मके प्रभावसे मनुष्य मोक्षकी या भगवान्की प्राप्ति करता है ।

धर्म ही सत्य, सनातन और शाश्वत है । धर्म ही नित्य है और शेष समस्त पदार्थ अनित्य हैं । धर्म ही पृथ्वीको तथा समस्त प्रजाको धारण किये हुए है । धर्म ही मनुष्योंकी उत्पत्ति और प्रलयका कारण है । धर्म ही देवत्व और मनुष्यत्वको प्राप्त करानेमें सहायक है । धर्म ही इहलोक और परलोकको बनाता तथा स्वर्गादि प्रदान करता है । धर्म ही मनुष्यको सर्वविध सुख-शान्ति तथा तत्त्वज्ञान प्रदान करता है । धर्म ही मनुष्यको सदाचरणके पालन और असदाचरणके त्यागकी शिक्षा देता है । धर्म ही मनुष्यको 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' 'पञ्चमहायज्ञा अहरहः कर्तव्याः' 'सत्यं वद' 'धर्मं चर' 'मातृदेवो भव' 'पितृदेवो भव' 'आचार्यदेवो भव' 'अतिथिदेवो भव' इत्यादि कल्याणकारी धर्मपूर्ण सदुपदेशोंकी शिक्षा देता है, जिन सदुपदेशोंके द्वारा मानव उन्नति-पथपर अग्रसर होता हुआ ज्ञानकी पराकाष्ठापर पहुँच जाता है । धर्म ही समस्त आचार-विचार-व्यवहारकी सत्शिक्षा देकर मनुष्यको सत्कर्तव्यके लिये नियन्त्रित करता है, जिससे मनुष्य आदर्श मनुष्यत्वको प्राप्त करता है, अन्यथा वह पशुत्वको प्राप्त करता है ।

इस संसारमें समस्त प्राणियोंकी प्रवृत्ति सुख-प्राप्तिके लिये ही होती है, किंतु वह सुख केवल 'धर्म' के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, ऐसा बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों, विद्वानों एवं धर्माचार्योंका निर्णय है । अतः मनुष्योंको सर्वदा धर्माचरण (धर्मोपासना) करना चाहिये । धर्माचरणसे ही अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है ।

सुखं तु जगतामेव काम्यं धर्मेण जायते ।

(कारिकावली १४५)

'संसारके समस्त प्रकारके सुखोंकी प्राप्ति धर्मसे ही होती है ।'

शास्त्रोंका कहना है कि धर्माचरणसे मनुष्यका उच्च विचार, उच्च चरित्र और उच्च जीवन बनता है। उच्च जीवनसे मनुष्यका बाह्य और आभ्यन्तर पवित्र और निर्मल बन जाता है, जिससे वह अपना और विश्वका कल्याण करनेकी क्षमता प्राप्त कर लेता है। ऐसी स्थितिमें भी जो मनुष्य धर्माचरण नहीं करता, वह वर्णधर्म और आश्रम-धर्मसे च्युत होकर स्वधर्म और स्वकर्तव्यसे तथा मानवतासे भी च्युत हो जाता है और स्वेच्छाचारी बनकर 'इतो भ्रष्ट-स्ततो भ्रष्टः' हो जाता है; जिससे उसकी सर्वत्र निन्दा और अप्रतिष्ठा होती है। अतः अपने जीवनको उन्नति-पथपर अग्रसर करनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको प्रयत्नपूर्वक धर्मका आचरण करना चाहिये ।

भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

धर्मं आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः ।
लोकान् विशोकान् वितरत्यथानन्त्यमसङ्गिनाम् ॥

(श्रीमद्भागवत ४ । १४ । १५)

'मनुष्योंके द्वारा मन, वाणी, शरीर और बुद्धिसे धर्मका आचरण किया जाय तो वह धर्म उन्हें शोकरहित स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त कराता है। यदि धर्माचरण करनेवाले मनुष्य निष्काम-भावसे धर्म करें, तो वही धर्म उन्हें मोक्ष-पदकी प्राप्ति करा देता है ।'

धर्माचरणसे धर्मका अस्तित्व रक्षित रहता है और धर्मके अस्तित्वसे मनुष्यका अस्तित्व सुरक्षित रहता है। अतः धर्मका संरक्षण आवश्यक है। अन्यथा धर्मके विनाश होनेपर मनुष्यका विनाश निश्चित है।

'धर्मप्रणाशे भूतानामभावः स्यान्न संशयः ।'

(महाभारत, अनुशासनपर्व ६१ । २०)

'धर्मके नाश होनेपर प्राणियोंका भी नाश हो जाता है, यह निःसंदेह है ।'

महर्षि गर्गने कहा है—

'सति धर्मे हि जगतो न विनाशो भवेद् ध्रुवम् ।'

'धर्मकी सत्ता रहते हुए जगत्का विनाश नहीं हो सकता, यह निश्चित है ।'

धर्म वृक्षस्वरूप है और संसारके समस्त पदार्थ धर्मरूपी वृक्षकी शाखाएँ हैं। अतः धर्मरूपी वृक्षकी रक्षा परमावश्यक है। धर्मरूपी वृक्षकी रक्षा नहीं की जायगी तो उसकी शाखाओं और पत्रोंकी रक्षा कथमपि नहीं हो सकती। 'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम् ।'

प्राचीन कालमें मनुष्य धर्मपालनको अपना परम धर्म समझते थे। वे धर्मरक्षार्थ अपने प्राणोंतकका त्याग कर देते थे, किंतु 'धर्म'का परित्याग नहीं करते थे। इसके उदाहरण धर्मराज युधिष्ठिर हैं। जिन्होंने धर्मरक्षार्थ पृथ्वीके समस्त साम्राज्यतकका त्याग कर दिया किंतु धर्मका त्याग नहीं किया। युधिष्ठिरकी कट्टर धार्मिकताके ही कारण भगवान् श्रीकृष्ण, भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्य आदि महापुरुषोंने एकमत्य होकर युधिष्ठिरका 'धर्मराज'की विशिष्ट उपाधिद्वारा सम्मान किया था। अतः हम आज भी उसी श्रेष्ठ उपाधिके सहित 'धर्मराज युधिष्ठिर' कहकर उनका श्रद्धाके साथ स्मरण करते हैं।

इसी प्रकार राजर्षि शिवि, महर्षि दधीचि और सत्य हरिश्चन्द्र आदि धार्मिकोंकी कट्टर धार्मिकता प्रसिद्ध है। जिन्होंने धर्मरक्षार्थ अनेकानेक कष्ट सहन किये; किंतु 'धर्म'का परित्याग नहीं किया। इसलिये आज भी इन धर्मात्माओंकी कीर्ति अजर-अमर है।

सिबि दधीचि हरिचंद नरेसू।
सहेउ धरमहित कठिन कलेसू॥

—तुलसीदास ।

अतः जिस प्रकार युधिष्ठिर, सत्य हरिश्चन्द्र आदिने बड़ी-से-बड़ी विपत्ति आनेपर भी धर्मका त्याग नहीं किया, उसी प्रकार हमें भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये।

भगवान् वेदव्यासजी कहते हैं—

न जातु कामान्न भयान्न लोभा-
द्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

(महाभारत, उद्योगपर्व ४० । १२-१३)

'मनुष्य काम, लोभ, भय अथवा जीवनके लिये भी

धर्मका त्याग न करे; क्योंकि धर्म नित्य (स्थायी) है; सुख और दुःख ये दोनों ही अनित्य (नाशवान्) हैं, परंतु जीव नित्य है, उसका शरीर धारण करनेका कारण अनित्य है।'

आजके युगमें धर्मकी बड़ी दुर्दशा हो रही है। हमारा हिंदू-समाज धर्मसे विमुख होता जा रहा है। धर्मके प्रति लोगोंकी अनास्था एवं उपेक्षा बढ़ती जा रही है, जिससे धर्म और धर्मस्वरूप भगवान्के अस्तित्वमें भी अविश्वास और अश्रद्धाकी वृद्धि हो रही है। धर्मके प्रधान अङ्गभूत तीर्थस्नान, संध्योपासन, देवदर्शन और देवपूजन आदिका सर्वत्र त्याग दिखायी दे रहा है। वर्णधर्म और आश्रमधर्मका बन्धन तोड़कर मनमाने आचरणको परम पुरुषार्थ और परम उन्नतिका प्रधान कारण समझा जा रहा है। मन्दिरोंकी मर्यादा नष्ट हो रही है। विवाह-संस्कारकी पवित्रताका लोप हो रहा है। सतीधर्म तथा पातिव्रतका त्याग आवश्यक बतलाया जा रहा है। गोवध और गोमांस-भक्षणको देशकी उन्नतिका प्रधान साधन घोषित किया जा रहा है। मद्यपान और मांस-भक्षणको मनुष्यके लिये हितकर बताया जाता है। यज्ञ-यागादि धार्मिक अनुष्ठानोंको व्यर्थ कहकर उनका उपहास किया जाता है। साधु, संत, महात्मा और ब्राह्मणोंकी निन्दा और तिरस्कारको आवश्यक धर्म माना जाता है। इस प्रकार धर्म और धार्मिक विषयोंकी उपेक्षा एवं अनास्था होनेके कारण ही आज भारतवर्षके निवासी अन्न-वस्त्रके लिये तड़प रहे हैं। कहीं अतिवृष्टि, कहीं अनावृष्टि, कहीं भीषण अग्निकाण्ड, कहीं भयानक दुर्भिक्ष, कहीं परस्परमें स्वार्थजनित कलह-संघर्ष, कहीं लूट-मार—यों चारों ओर भीषण चीत्कार सुनायी दे रहा है। सर्वत्र देशमें किसी-न-किसी रूपमें अशान्तिका साम्राज्य उपस्थित है। इन सब विपत्तियोंका एकमात्र कारण 'धर्म'को न मानना ही है। आज भी भगवान् मनुके—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
> (मनु० २ । २०)

—इस वचनके अनुसार धर्मके मूल आधार और ज्ञानज्येष्ठ ब्राह्मणवर्गसे धार्मिक शिक्षा ग्रहण की जाय और तदनुसार धर्ममें श्रद्धा-विश्वास रखकर धर्मानुकूल आदर्शोंपर चला जाय तो भारत पुनः पूर्वकालीन स्वर्णिम युगको प्राप्त हो सकता है, जिससे भारतमें रहनेवाले सभी प्राणी सब प्रकारसे सुख-शान्तिका अनुभव कर सकते हैं।

इस संसारमें बन्धु-बान्धव, धन-सम्पत्ति आदि जो कुछ पदार्थ हैं, सभी क्षणभङ्गुर और नाशवान् हैं। सब इसी लोकमें साथ देते हैं, परलोकमें साथ नहीं देते। परलोकमें तो केवल एक 'धर्म' ही साथ देता है। अतः 'धर्म' ही मनुष्यका परम मित्र है—

> धर्मः सखा परमहो परलोकयाने ।

'धर्म ही मनुष्यका परम मित्र है, जो कि परलोकमें साथ देता है।'

> धर्मो मित्रं मृतस्य च।　　　　(चाणक्यनीति)

'मरनेवाले मनुष्यका धर्म ही मित्र है।' भगवान् मनु कहते हैं—

> एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
> शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥
> (मनु० ८ । १७)

'एक धर्म ही ऐसा मित्र है, जो मरनेपर भी उसके साथ जाता है और सब तो शरीरके नाशके साथ ही उसको त्यागकर अन्यत्र चले जाते हैं।'

> नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
> न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥
> (मनु० ४ । २३९)

'पिता, माता, पुत्र, धर्मपत्नी और जातिवाले—ये कोई भी परलोकमें (मरनेवालेकी) सहायता नहीं करते, वहाँ केवल एक धर्म ही सहायता करता है।'

> मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
> विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥
> (मनु० ४ । २४१)

'भाई, बन्धु आदि तो काठ और मिट्टीके ढेलेके सदृश मरे हुए शरीरको पृथ्वीपर छोड़कर वापस (अपने-अपने घर) लौट जाते हैं, केवल धर्म ही मृतकके साथ जाता है।'

> तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः ।
> धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥
> (मनु० ४ । २४२)

'इसलिये परलोकके सहायतार्थ प्रतिदिन कुछ-न-कुछ

धर्मका संचय करना चाहिये; क्योंकि धर्मकी सहायतासे ही मनुष्य कठिन नरकादिसे तर जाता है।'

ऐसे असंख्य वचन महाभारत तथा पुराणोंमें भरे पड़े हैं।

उपर्युक्त अनेक प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि धर्म ही मनुष्यका असली साथी है, जो इस लोक और परलोकमें साथ देता है। अतः बुद्धिमान् मनुष्यका प्रधान कर्तव्य है कि वह धर्मका पालन करे। धर्मके पालन करनेसे ही धर्मकी रक्षा होती है। धर्मकी रक्षासे मनुष्यकी रक्षा होती है। अतः धर्मके रक्षार्थ मनुष्यको सतत प्रयत्न करना चाहिये। जो मनुष्य धर्मकी रक्षा नहीं करता, उस मनुष्यको धर्म ही नष्ट कर देता है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥
(मनु० ८। १५)

"नष्ट (अरक्षित) हुआ धर्म ही मनुष्यको मार डालता है और वही रक्षित होनेपर मनुष्यकी रक्षा करता है। इसलिये 'नष्ट हुआ धर्म कहीं हमको न मार डाले' एतदर्थ धर्मका नाश नहीं करना चाहिये।"

'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
(महाभारत, वनपर्व, ३१३। १२८)

'धर्म ही अरक्षित (नष्ट) होनेपर मनुष्यको मार डालता है और वही रक्षित होनेपर मनुष्यकी रक्षा करता है।'

अतः मनुष्यको सर्वप्रकारसे धर्मका पालन कर 'धार्मिक' बनना चाहिये।

धर्मका परिणाम सर्वदा श्रेष्ठ और कल्याणकारी होता है। पूर्वजन्मके संस्कारवश यदि किसी धार्मिक मनुष्यको धन और संतति आदिके अभावके कारण कष्टका अनुभव करना पड़े, तो उसे सहर्ष सहन करना चाहिये, किंतु भूलकर भी 'अधर्म'में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये।

भगवान् मनुकी आज्ञा है—

*** न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।**
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन् विपर्ययम्॥
(मनु० ४। १७१)

'पापी अधार्मिक पुरुषोंकी शीघ्र ही दुर्गति होती है, ऐसा जानकर पुरुषको चाहिये कि वह धर्मसे दुःख पाता हुआ भी अधर्ममें अपना मन न लगावे।'

अधर्मका परिणाम बहुत भयंकर होता है। यद्यपि यह ठीक है कि अधर्मका फल अधार्मिक व्यक्तिको तत्काल नहीं मिलता, किंतु कुछ समय पाकर आगे-पीछे अवश्य ही मिलता है। † अधर्मसे पहले तो अधार्मिक पुरुष वृद्धिङ्गत-सा होता है और (घरमें आग लगानेसे एक बार उजियाला होनेकी भाँति) विभिन्न प्रकारके विशिष्ट ऐश्वर्योंको प्राप्त करता है, किंतु अन्ततोगत्वा उस अधार्मिक पुरुषपर अधर्मका ऐसा भयंकर कुप्रभाव पड़ता है कि वह समूल नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। इस विषयमें विशेष जानकारीके लिये मनुस्मृतिके चतुर्थ अध्यायके १७०वें श्लोकसे १७४वें तकके श्लोकोंको देखना चाहिये।

यह निर्विवाद है कि धर्मके विरुद्ध आचरण करनेवाला कोई भी पुरुष सुख नहीं पा सकता। रावण, हिरण्यकशिपु, कंस एवं शिशुपाल आदि धर्मद्रोहियोंकी अधार्मिकता प्रसिद्ध है, जो अत्यन्त पराक्रमी और शक्तिशाली होते हुए भी धर्म-विमुखताके कारण नष्ट हो गये और उनका जीवन सदैवके लिये कलङ्कित हो गया।

शास्त्रोंमें धर्महीन (अधार्मिक) मनुष्यको 'पशु' कहा गया है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥
(चाणक्य० १७। १७)

'आहार (खान-पान), निद्रा, भय और मैथुन (संतानोत्पादन)—ये चारों बातें पशुओं और मनुष्योंमें समान रूपसे मिलती हैं, किंतु मनुष्योंमें (पशुओंकी अपेक्षा) केवल एक धर्म ही विशेष है, इसलिये धर्महीन मनुष्यको पशुके सदृश कहा गया है।'

अतः मानव-शरीरको पाकर भी जिसने धर्मको नहीं अपनाया, उसका धर्महीन जीवन निश्चित ही पशुके सदृश है।

---

* सीदन्नपि हि धर्मेण न त्वधर्मं समाचरेत्।'
(पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड ५४। ३८)

† त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते॥ (हितोपदेश)

भगवान् शंकराचार्यने भी कहा है—

पशोः पशुः को न करोति धर्मम् ।

(मणिरत्नमाला)

'पशुओंसे बढ़कर वह मनुष्य पशु है, जो धर्मको नहीं करता ।'

जो मनुष्य प्रमादवश अथवा अज्ञानवश धर्मसे विमुख रहता है वह जीवित रहता हुआ भी मरे हुएके सदृश है—

पण्डितोऽपि महामूर्खो धनवानपि निर्धनः ।
जीवन्नपि मृतो लोके यो धर्मविमुखो नरः ॥

'इस संसारमें जो मनुष्य धर्मसे विमुख है, वह पण्डित होकर भी महामूर्ख कहलाता है, वह धनिक होकर भी निर्धन और वह जीवित होकर भी मृतक कहलाता है ।'

जो मनुष्य धर्ममें श्रद्धा-विश्वास रखता है, वह सर्वदा सुखी रहता है । जो मनुष्य धर्ममें श्रद्धा-विश्वास नहीं रखता अथवा धर्मके विषयमें संशय रखता है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और उसे इहलोक एवं परलोक दोनोंके सुखोंसे वञ्चित रहना पड़ता है ।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

(गीता ४ । ४०)

'जो मूर्ख अज्ञानी मनुष्य श्रद्धाहीन और संशयात्मा है, वह नष्ट हो जाता है । संशयात्मा मनुष्यके लिये न तो इहलोकका सुख है और न परलोकका ही सुख है ।'

जो धर्म सबके लिये विश्वसनीय, आदरणीय और पालनीय है, उस धर्मका महत्त्व वेदादि शास्त्रोंमें इस प्रकार लिखा है—

'सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् ।'

(ऋग्वेद ९ । ७३ । १)

'धार्मिक पुरुषको सत्यरूपी नौका भवसागरसे पार कर देती है ।'

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा,
लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति ।
धर्मेण पापमपनुदति धर्मे
सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ॥

(नारायणोपनिषद्)

'धर्म ही समस्त जगत्‌की प्रतिष्ठा है । धर्मिष्ठके पास ही प्रजाएँ जाती हैं । धर्मसे ही पाप दूर होता है । धर्ममें सबकी प्रतिष्ठा है । इसीलिये धर्मको सबसे श्रेष्ठ कहा जाता है ।'

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
धर्मेण देवता ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः ॥

(महाभारत)

'धर्मके द्वारा ऋषिगण इस भवसागरसे पार हो गये । सम्पूर्ण लोक धर्मके आचारपर ही टिके हुए हैं, धर्मसे ही देवता बढ़े हैं और धन भी धर्मके आश्रित है ।'

धर्मेण हन्यते व्याधिर्धर्मेण हन्यते ग्रहः ।
धर्मेण हन्यते शत्रुर्यतो धर्मस्ततो जयः ॥

(महाभारत)

'धर्मसे रोग नष्ट होते हैं, धर्मसे ग्रहोंकी पीड़ा दूर होती है । धर्मसे शत्रुओंका नाश होता है, जहाँ धर्म होता है, वहाँ विजय होती है ।'

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवति सुखम् ।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ॥

(महाभारत)

'धर्मसे अर्थकी प्राप्ति होती है, धर्मसे सुखकी प्राप्ति होती है । धर्मसे समस्त वस्तुओंकी प्राप्ति होती है और इस जगत्‌में धर्म ही सार है ।'

धर्मः सतां हितः पुंसां धर्मश्चैवाश्रयः सताम् ।
धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचराः ॥

(महाभारत)

'धर्म ही सज्जन पुरुषोंका हित करनेवाला है, धर्म ही सज्जन पुरुषोंका आश्रय है और धर्मसे ही चराचर तीनों लोकोंका संचालन होता है ।'

धर्मात्सुखं च ज्ञानं च यस्मादुभयमाप्नुयात् ।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य विद्वान् धर्मं समाचरेत् ॥

(स्कन्दपुराण)

'धर्मसे सुख और ज्ञान—इन दोनोंकी प्राप्ति होती है । अतः सांसारिक समस्त प्रपञ्चोंको त्यागकर विद्वान्‌को धर्मका आचरण करना चाहिये ।'

उद्धर्ति निखिला जीवा धर्मेणैव क्रमादिह ।
विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परं पदम् ॥

(महाभारत)

'इस संसारमें मनोयोगपूर्वक धर्म करनेसे ही समस्त प्राणी क्रमिक उन्नति प्राप्त करते हुए अन्तमें परम पदकी प्राप्ति करते हैं।'

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥
(वाल्मीकिरामायण ३ । ९ । ३०)

'धर्मसे अर्थ प्राप्त होता है, धर्मसे सुख प्राप्त होता है, धर्मसे ही समस्त वस्तुओंकी प्राप्ति होती है। अतः जगत्में धर्म ही सार है।'

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम्।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम्॥
(मनुस्मृति ६ । ६४)

'शरीरधारी जीवोंको दुःखकी प्राप्ति अधर्मसे होती है और धर्मसे ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, जिससे अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है।'

धर्मो बन्धुरबान्धवे पृथुपते धर्मः सुहृन्निश्चलः
सम्भारोऽस्मरुस्थले सुरतरुर्नास्त्येव धर्मात्परः॥
(चतुर्वर्गसंग्रह)

'हे राजन्! जिस मनुष्यका कोई भी बन्धु नहीं होता उसका धर्म ही बन्धु है और उसका स्थायी मित्र भी धर्म ही है। भयंकर मरुस्थलमें भी समस्त सामग्रियोंको देनेवाला धर्मसे बढ़कर दूसरा कोई कल्पवृक्ष नहीं है।'

विद्या रूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगिता।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते॥
तस्मात्सर्वात्मना धर्मं नित्यं तात समाचर।
मा धर्मविमुखः प्रेत्य तमस्यन्धे पतिष्यति॥

'धर्मसे विद्या, रूप, धन, शूरता, कुलीनता, नीरोगता, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष सब कुछ प्राप्त होता है। अतः हे पुत्र! तुम प्रतिदिन हृदयसे धर्मका आचरण करो। धर्मसे विमुख होकर अधर्म मत करो, अन्यथा घोर नरकमें गिरोगे।'

अन्यान्य धर्मग्रन्थोंके धर्मका महत्त्व बतलानेवाले कुछ वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

धर्मो हि भगवान् देवः।
(पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड ५४ । ३८)

धर्ममूलं हि भगवान्। (श्रीमद्भागवत ७ । ११ । ७)

धर्ममूलं हि भगवान्। (महाभारत)

धर्मस्य प्रभुरच्युतः। (महाभारत, अनुशासनपर्व, १४९ । १३७)

धर्मे वेदाः प्रतिष्ठिताः। (महाभारत, वनपर्व १५० । २८)

धर्मो हि परमा गतिः।
(महाभारत, शान्तिपर्व)

धर्मो योनिर्मनुष्याणाम्।
(महाभारत, शान्तिपर्व १९३ । ३३)

धर्मो मूलं मनुष्याणाम्। (महाभारत)

धर्म इष्टं धनं नृणाम्। (श्रीमद्भागवत ११ । १९ । ३९)

धर्मः कामदुघा धेनुः। (बृहन्नारदपु० २७ । ७२)

धर्मः स्वर्गादिसाधनम्। (कारिकावली १६१)

धर्मं वै शाश्वतं लोके। (महाभारत, शान्ति० २९२ । १९)

धर्मे तु परमं सुखम्। (महाभारत, शान्तिपर्व २७१ । ५६)

न धर्मसदृशं मित्रम्। (पद्मपुराण, उत्तरखण्ड १०८ । २५)

न धर्मसदृशं मित्रम्। (चाणक्यनीति)

धर्मो धारयते प्रजाः। (महाभारत, कर्णपर्व ६९ । ५८)

धर्मो धारयति प्रजाः। (महाभारत, उद्योगपर्व ९० । ६७)

आजके अधिकांश मानव धर्मकी प्रामाणिकतापर अविश्वास रखते हैं। अतः वे धर्मका प्रत्यक्षीकरण चाहते हैं। वस्तुतः धर्म ईश्वरकी तरह अनिर्वचनीय है। इसलिये धर्मका स्वरूप प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंद्वारा ग्राह्य नहीं है। केवल ऋषि-महर्षियोंके शास्त्रीय वचनोंके आधारपर ही 'धर्म'की प्रामाणिकतापर विश्वास किया जा सकता है। अतएव भगवान् मनुने (२ । १३) में कहा है—

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

महर्षि आपस्तम्बने भी कहा है—

'नहि धर्माधर्मौ चरत आवां स्व इति, न देवगन्धर्वा न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्मोऽयमधर्म इति। यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मः, यं गर्हन्ते सोऽधर्मः।'
(आपस्तम्बधर्मसूत्र ७ । ६-७)

'धर्म और अधर्म हम हैं, हमारा आचरण करो, ऐसा नहीं कहते। न देवता और गन्धर्व ही कहते हैं तथा न पितर

ही कहते हैं कि यह धर्म है और यह अधर्म है। जिसके आचरणसे श्रेष्ठ पुरुष श्लाघा (प्रशंसा) करते हैं, वह धर्म है और जिसकी गर्हा (निन्दा) करते हैं, वह अधर्म है।'

वस्तुतः धर्मका रहस्य अत्यन्त जटिल और गहन है। इसका पूर्ण रहस्य ऋषि-महर्षियोंने भी कठिनतासे समझ पाया था।

भगवान् मनु कहते हैं—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सिता॥
(मनुस्मृति १२। १०५)

'धर्मके तत्त्वको जाननेके इच्छुकको प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध प्रकारके शास्त्रोंको भलीभाँति जानना चाहिये।'

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥
(मनु० १२। १०६)

'जो वेद और धर्मशास्त्रको वेद-शास्त्रके अनुरूप तर्कके सहारे विचारता है, वही धर्मको जान सकता है, दूसरा नहीं।'

धर्मकी व्यवस्था शास्त्रज्ञोंने जाति और वर्णके क्रमसे पृथक्-पृथक् की है। अतः प्रत्येक मनुष्यको अपनी जाति और अपने आश्रमके अनुसार स्वधर्मका पालन करना चाहिये। स्वधर्मपालनका अभिप्राय यह है कि चारों वर्णोंको अपने-अपने वर्णके अनुकूल ही धर्मका पालन करना चाहिये। किसीको किसी दूसरेके धर्ममें हस्तक्षेप न तो करना चाहिये और न दूसरेके धर्मका ग्रहण ही। जो मनुष्य अपने धर्मके अनुसार स्वधर्मका पालन करता है, वह सहजमें ही सुख-शान्तिकी प्राप्ति करता है।

भगवान्का आदेश है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
(गीता १८। ४५)

जो लोग वर्णाश्रम-धर्मको नहीं मानते और न शास्त्रोंकी आज्ञा मानते, उनके लिये गीतामें स्पष्ट लिखा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गीता १६। २३)

'जो मनुष्य शास्त्रकी विधिको त्यागकर स्वाभिलषित कार्य करता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है और न परम गतिको तथा न सुखको प्राप्त होता है।'

अतः मनुष्यको वेदों, स्मृतियों एवं पुराणादिमें लिखित वर्णधर्म और आश्रमधर्मके अनुसार स्वधर्मका परिपालन करना चाहिये।

हमारा भारतवर्ष सदैवसे धर्मप्रधान रहा है। धर्मप्रधान भारतवर्षके अधिकांश निवासी श्रुति-स्मृतिके अनुकूल धर्मका पालन करते थे। श्रुति-स्मृतिके अनुकूल धर्मको माननेवाले धार्मिक मनुष्योंको धर्मराज युधिष्ठिरके कतिपय महत्त्वपूर्ण वाक्योंपर विशेष ध्यान देना चाहिये, जिनको उन्होंने यक्षके द्वारा किये गये प्रश्नोंके उत्तररूपमें कहा था—

'मोहो हि धर्ममूढत्वम्।' 'स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यम्।' 'धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयः।' 'तपः स्वधर्मवर्तित्वम्।' 'यश्च धर्मरतः स गतिं लभते।'
(महाभारत, वनपर्व अ० ३१३। ३४, ९६, ९८, ८८, ११३)

'अपने धर्ममें मूढ़ता ही मोह है। अपने धर्ममें स्थिरता ही असली स्थिरता है। धर्मज्ञ ही पण्डित कहलाता है। अपने धर्मका अनुष्ठान ही तप है। जो अपने धर्ममें संलग्न रहता है, उसीकी सद्गति होती है।'

धर्मराज युधिष्ठिरने धर्मके विषयमें जो महत्त्वपूर्ण ज्ञानप्रद विषय कहे हैं, वे श्रुति-स्मृत्यनुकूल हैं और वे प्रत्येक धार्मिक मनुष्यके लिये ग्राह्य और अनुकरणीय हैं। श्रुति-स्मृत्यनुकूल धर्मको मानना और तदनुसार धर्ममें प्रवृत्त होना ही मनुष्यका परम धर्म है। श्रुति-स्मृत्यनुकूल धर्मके अनुरूप चलनेवाले मनुष्यके लिये भगवान् मनु कहते हैं—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥
(मनु० २। ९)

'वेद और स्मृतिमें कथित धर्मको करता हुआ मनुष्य इस संसारमें कीर्ति प्राप्त करता है और मरनेपर परलोकमें परमोत्कृष्ट सुख प्राप्त करता है।'

धर्मका दूसरा नाम 'भगवान्' अथवा 'ईश्वर' है। अतः धर्म भगवान्की तरह अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक और सर्वजीवहितकारी है। सर्वजीवहितकारी धर्मके अधीन सृष्टिके समस्त पदार्थ हैं। सृष्टिके समस्त पदार्थ जब धर्मके ही अधीन हैं, तो मनुष्यको भी धर्मके अधीन रहना

चाहिये। धर्मके अधीन रहनेमें ही मनुष्यका कल्याण है। अतः मनुष्यको धर्मके अधीन रहते हुए सर्वदा धर्मका संग्रह करना चाहिये।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥

'शरीर अनित्य है, नाना प्रकारके वैभव अनित्य हैं और मृत्यु सर्वदा संनिहित रहती है, इसलिये विवेकी पुरुषको सर्वदा धर्मका संग्रह करना चाहिये।'

'धर्मं तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्।' (श्रीमद्भागवत ६।३।१९) के अनुसार भगवत्प्रोक्त धर्म (वेदोक्त धर्म) का आचरण और संरक्षण सभीके लिये परमावश्यक है। जो भगवत्प्रोक्त धर्ममें श्रद्धा-विश्वास रखकर धर्मको भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप समझता है और नित्य-नैमित्तिक धर्मानुष्ठानमें सर्वदा संलग्न रहता है, वह धार्मिक पुरुष उत्कृष्ट देवलोकको प्राप्तकर मोक्ष (भगवत्प्राप्ति) को प्राप्त करता है।

वैदिक अध्यात्मविद्या

(लेखक—पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा)

वेदको ईश्वरका ज्ञानमय तप कहा है। सारी सृष्टिका जो ज्ञान और विज्ञान है, वह उसी ज्ञानमयका स्वरूप है। 'सर्वज्ञानमयो हि सः'—यह उपनिषद्‌का वचन उस ईश्वरकी सर्वज्ञताका परिचायक है। वैदिक ऋषियोंका मुख्य उद्देश्य उस सत्यस्वरूप परमात्माकी बहुमुखी प्रतिभाकी व्याख्या करना ही था। ऋषियोंने समाधिस्थ होकर ही वेदोंमें समाविष्ट विशाल ज्ञानको प्रत्यक्ष किया था। इसी विशाल ज्ञानको वैदिक परिभाषामें 'उरुज्योति' कहते हैं। ऋग्वेदका ऋषि कहता है—'उरुज्योतिश्चक्रतुरार्याय' (ऋ० १।११७।२१) यह उरुज्योति वस्तुतः वही ज्ञान है, जिसे हम आजकी भाषामें 'अध्यात्म-विद्या' या 'मेटाफिजिक्स' कहते हैं।

समस्त विचारधाराओंकी समाप्ति वेदोंमें ही हुई है; अतः उसीसे अध्यात्मशास्त्र भी प्रादुर्भूत हुआ। डॉ० कुमारस्वामीने ठीक ही कहा है कि 'मैं नहीं मानता कि उपनिषदोंमें किसी ऐसे तत्त्वका उपदेश हुआ है कि जिसका ज्ञान वैदिक ऋषियोंमें नहीं था। मन्त्रोंकी अध्यात्मविज्ञानपरक संगति सिद्ध करती है कि उनके रचयिता ऋषियोंके मतमें अर्थोंकी कल्पना स्पष्ट थी। वेदोंका अर्थ भारतीय अध्यात्मविद्याकी व्याख्या न होकर समस्त विश्वके अध्यात्मविद्याकी व्याख्या है। भारतीय अध्यात्मविद्याके प्रकाशमें यदि पाश्चात्य शास्त्र पढ़े जायँ, तो पाश्चात्य शास्त्रोंके ज्ञानमें अभिवृद्धि हो सकती है। सनातनधर्म या सनातन अध्यात्मविद्या किसी कालविशेष, व्यक्तिविशेष या देश-विशेषकी सम्पत्ति नहीं है, वह तो सारी मानवजातिकी जन्मसिद्ध सम्पत्ति है। इस प्रकार समस्त वेदोंका पर्यवसान अध्यात्मविद्यामें है।

वेदमें कहा है कि 'मित्र और वरुणने आर्योंके लिये उरुज्योतिको प्रकट किया'। यह मित्र और वरुण वस्तुतः वह द्वन्द्वात्मक नियम है कि जिससे सारी सृष्टिका संचालन होता है।

कथा है कि जब प्रजापति अकेले रहते हुए ऊब गये, तब 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' उन्होंने इच्छा की कि मैं 'अकेला हूँ, इसलिये बहुत हो जाऊँ।' फलस्वरूप 'सः तपः अतप्यत' उन्होंने तप करना शुरू किया, फलतः उनके अभीद्ध तपसे ऋत और सत्यका एक जोड़ा पैदा हुआ। यह संसारकी सृष्टिका क्रम ही वैदिक परिभाषामें 'भाववृत्त' कहा गया है। इस भाववृत्तका वर्णन ऋग्वेदके १०।१९०के तीन मन्त्रोंमें अघमर्षण ऋषिने किया है। उसी सूक्तके प्रथम मन्त्रमें वर्णन है कि—"उस प्रजापतिके अति कठोर तपसे 'ऋत' और 'सत्य' उत्पन्न हुए।" फिर उससे क्रमशः विकास होते-होते द्यु, अन्तरिक्ष और पृथ्वी—इन तीन लोकोंकी रचना हुई। यह ऋत और सत्यका द्वन्द्व वही है, जिसका वर्णन प्रश्नोपनिषद्‌के ऋषिने 'रयि' और 'प्राण'के रूपमें किया है। इनमें प्रथम उपभोग्य है और दूसरा उपभोक्ता। ऋत उपभोग्य है सत्य उपभोक्ता; रयि उपभोग्य है प्राण उपभोक्ता; स्त्री उपभोग्य है पुरुष उपभोक्ता। इन्हीं द्वन्द्वोंसे यह सृष्टि चल रही है। इन्हीं द्वन्द्वोंको हम सांख्यदर्शनकी भाषामें 'प्रकृति' और 'पुरुष' कह सकते हैं। प्रकृति स्त्री या ऋत होनेसे उपभोग्य है और पुरुष पुरुष या

सत्य होनेसे प्रकृतिका उपभोग करनेवाला है। इन दोनोंके ही संयोगसे सृष्टिका प्रादुर्भाव होता है। यह द्वन्द्वशास्त्र ही वस्तुतः सांख्यशास्त्र है। जिस दिन इस द्वन्द्व-नियमकी समाप्ति हो जायगी, उसी दिन सृष्टिकी भी समाप्ति समझनी चाहिये। इस प्रकार समस्त सांख्यशास्त्रका मूल वेदोंके इस 'ऋत और सत्य'के द्वन्द्वमें हैं। इस द्वन्द्वसे सारी सृष्टि पैदा हुई, पर जिसके अभीद्ध तपसे यह द्वन्द्व पैदा हुआ, वह इन दोनों द्वन्द्वोंसे ऊपर द्वन्द्वातीत है। वही सत्यात्मक ज्योति है। इस द्वन्द्व और सत्यात्मक ज्योतिका वर्णन ऋग्वेदके १०वें मण्डलके १२९वें सूक्तमें विस्तारसे किया है। इस सूक्तका प्रथम मन्त्र है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्
अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥

'उस समय अर्थात् सृष्टिके प्रारम्भमें न असत् था—न सत्, रज भी नहीं था। जो दूसरी तरफ व्योम या आकाश दिखायी दे रहा था, वह भी नहीं था। किसने आवरण बिछाया? किसके सुखके लिये? बड़ा गभीर क्या था?'

इस सूक्तमें प्रतिपादित वह परमतत्त्व निर्द्वन्द्व है। 'वह यह नहीं था, वह वह नहीं था, वह ऐसा नहीं था, वह वैसा नहीं था'—आदि सब शब्द-योजना उस परमतत्त्वको निर्द्वन्द्व बतानेके लिये ही है। यह निर्द्वन्द्व अद्वैतवादकी तरह अभावरूप नहीं है, अथवा स्याद्वादकी तरह संशयरूप नहीं है, अपितु वह द्वन्द्वातीत स्थितिभाव (Positive) अस्तिभावरूप (Affirmative) और सद्भावरूप (Assertive) है; क्योंकि वेदके इसी सूक्तके तीसरे मन्त्रमें स्पष्ट कहा है—आनीद वातं स्वधया तदेकं तस्माद्ध अन्यन्न परः किं च नासः। अर्थात् उस समय भी जब असत् या सत् कुछ भी नहीं था, एक तत्त्व श्वास-प्रश्वास कर रहा था और उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। पर वह तत्त्व क्या था? यह सदासे एक यक्ष-प्रश्न ही रहा है और आगे भी रहेगा। इसी तत्त्वको वैदिक ऋषियोंने 'कः'के रूपमें व्यक्त किया है। वैदिक ऋषियोंने इस तत्त्वको जाननेकी भरपूर कोशिश की पर इस रहस्यमय अज्ञात तत्त्वकी तरफ इशारा करनेवाले 'क'के आगे हार मान बैठे। अन्तमें उन्हें यही कहना पड़ा—'कस्मै देवाय हविषा विधेम' (ऋ० १० । १२१ । १९)। हम किस तत्त्वको हवि समर्पित करें। वह तत्त्व ऐसा विलक्षण है कि उसका जरा-सा भी स्वरूप ध्यानमें नहीं आता। इसकी अज्ञेयतासे मुग्ध होकर 'नासदीयसूक्त'के ऋषिने कहा था—

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् (१ । १२९ । ६)

'उस तत्त्वको कौन जानता है और उसका वर्णन कौन कर सकता है।' इस 'क' तत्त्वका थोड़ा-सा वर्णन छान्दोग्योपनिषद्में इस प्रकार किया है—

कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति। कं च तु खं च न विजानामि।
यद्वाव कं तदेव खं। यदेव खं तदेव कमिति।
(४ । १० । ५)

''ब्रह्म 'क' है, ब्रह्म ही 'ख' है। पर मैं क और ख दोनोंको नहीं जानता। जो क है वही ख है और जो ख है वही क है।'' ब्रह्मरूप पूर्ण पदार्थ क है और यह सृष्टि ख है। वस्तुतः क और ख अर्थात् परब्रह्म और सृष्टि दोनों भिन्न प्रतीत होनेपर भी अभिन्न हैं। उसी परम तत्त्वका जीवात्मा भी एक अंश है। या यह कहना उपयुक्त होगा कि वही परमात्मा इस जीवका रूप धारण करके अनेक रूपोंमें प्रकट होता है। वही 'अजायमानो बहुधा विजायते।' अजायमान अर्थात् कभी न उत्पन्न होनेवाला परमतत्त्व जीवात्माओंके रूपोंमें,अनेक रूपोंमें प्रकट होता है। इसी सिद्धान्तको गीतामें अंश और अंशीके पारिभाषिक शब्दोंमें व्यक्त किया है। गीतामें भगवान् स्पष्ट कहते हैं—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' अर्थात् इस मर्त्यलोकमें उत्पन्न हुआ जीवात्मा मेरा ही अर्थात् उसी परम तत्त्वका अंश है। इस प्रकार यह जीवात्मा उसी परम तत्त्व या 'क' का अंश होनेसे स्वयं भी परमतत्त्व या 'क' ही है। इसी सिद्धान्तमें आचार्य शंकरके अद्वैतवादका बीज निहित है। इस जीव और परमात्माकी एकताके सिद्धान्तको आचार्यवरने अग्नि और चिनगारीके उदाहरणसे स्पष्ट किया है। अग्निकी चिनगारी स्वयंमें आग है, वह आगकी समस्त शक्तिको अपने अंदर समेटे रहती है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि आगका छोटा रूप ही चिनगारी है और चिनगारीका विशाल रूप ही आग है। ठीक उसी प्रकार परमात्माका छोटा रूप जीवात्मा है और जीवात्माका विशाल रूप ही परमात्मा है। उस 'क' स्वरूप आत्माके बिना संसारका ज्ञान असम्भव है और उस संसारको जाने बिना आत्माको

जानना असम्भव है। बिना 'क' के 'ख' शून्य है और बिना 'ख' के 'क' का कोई अस्तित्व नहीं। इस वैदिक परिभाषाको स्पष्ट करनेके लिये हम सांख्यदर्शनके शब्दोंमें कह सकते हैं कि 'क' पुरुष है और 'ख' प्रधान या प्रकृति। 'क' उपभोक्ता है और 'ख' उपभोग्य, 'क' अन्नाद है और 'ख' अन्न। इन दोनोंका ज्ञान एक दूसरेपर अवलम्बित है, एकके बिना दूसरेका ज्ञान असम्भव है। एक दूसरेके बिना दोनों अपूर्ण हैं। सांख्यकारिकाके रचयिता 'ईश्वरकृष्ण'के शब्दोंमें प्रकृति और पुरुषका संयोग लँगड़े और अंधेके समान है। प्रकृति सक्रिय है पर ज्ञानरहित है। पुरुष ज्ञानसहित है पर निष्क्रिय है। अतः जिस प्रकार एक लँगड़ा अंधेके कंधोंपर सवार होकर मार्ग बताता गया और उसके बताये मार्गपर अंधा चलता गया और इस प्रकार दोनों एक दूसरेकी सहायतासे तीर्थयात्रा कर आये, उसी प्रकार निष्क्रिय पर ज्ञानयुक्त पुरुष, सक्रिय पर ज्ञानरहित प्रकृतिके कंधोंपर सवार होकर सारी सृष्टिका संचालन करता है। इस प्रकार प्रकृति और पुरुष दोनोंकी पूर्णता एक दूसरेपर अवलम्बित है। यही बात छान्दोग्योपनिषद्में 'क' और 'ख' के उदाहरणसे स्पष्ट की गयी है।

यह ख अर्थात् सृष्टि भी, इतने गूढतम रहस्योंसे भरी हुई है कि इसका पूर्णरूपेण अध्ययन करना भी असम्भव है। विश्वका परमाणु भी अज्ञेय है। एक परमाणुके भी सम्पूर्ण रहस्योंको आजतक कोई भी मानव नहीं समझ पाया और न भविष्यमें कोई समझ ही सकेगा। दार्शनिक मेटर-लिंकने कहा है—'इस विश्वके एक अणुका रहस्य भी जिस दिन मेरी समझमें आ जायगा, उस दिन या तो यह विश्व समस्त वैचित्र्यसे हीन श्मशानके तुल्य हो जायगा अथवा मेरा मस्तिष्क ही फटकर गिर जायगा।'

इस विश्वकी रहस्यमयतासे वैदिक ऋषि भी पूरी तरह परिचित थे। 'नासदीयसूक्त' का कवि स्वयंसे उस परमात्मा-की तुलना करते हुए कहता है—

> इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव
> यदि वा दधे यदि वा न।
> यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
> सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥
> (ऋग्वेद १०। १२९। ७)

'जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई, जो इस सृष्टिका अध्यक्ष है, वह भी इस सृष्टिको पूरी तरह जानता है या नहीं, कौन जाने।'

परमात्माकी सर्वज्ञतापर विश्वास रखनेवाले एक वैदिक ऋषिकी यह जिज्ञासा है, उसकी सर्वज्ञतापर शंका नहीं। इस जिज्ञासाका तात्पर्य यही है कि यह विश्व स्वयंमें इतना विशाल एवं रहस्यमय है कि उसका वर्णन करना भी असम्भव है।

यह विश्व एक विशाल भवन है, जिसका एक स्कंभ 'क' है। उसी स्कंभके आधारपर यह भवन टिका हुआ है। पर वह स्कंभ क्या है यह भी एक गूढ ही है। ऋषि अथर्वाकी यह जिज्ञासा है—'स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः' वह स्कंभ या सर्वाधार कौन है ? इस प्रकार यह 'कः' सबके लिये एक यक्ष-प्रश्न है। पर इस यक्ष-प्रश्नका उत्तर भी ऋषियोंने 'कः' में ही दिया है। वह 'कः' क्या है, उत्तर है, वह 'कः' अर्थात् पूर्ण आनन्द है। वह पूर्ण आनन्दस्वरूप प्रजापति ही इस विश्वका स्कंभ या सर्वाधार है।

इस प्रजापतिके दो रूप हैं—निरुक्त और अनिरुक्त। 'द्वयं ह वै प्रजापते रूपं निरुक्तं च अनिरुक्तं च।' अनिरुक्त (Unmanifested) प्रजापति ही अमृत है, वही केन्द्र है और निरुक्त (Manifested) प्रजापति ही यह विश्व है। अनिरुक्त प्रजापतिका रूप अनादि और अनन्त है और निरुक्त प्रजापतिका रूप सादि और सान्त है। वह अजायमान या अनिरुक्त प्रजापति ही निरुक्त प्रजापतिका रूप धारण कर अनेक रूपोंसे युक्त होता है। यह निरुक्त प्रजापति अपने केन्द्र अनिरुक्त प्रजापतिसे उत्पन्न भी होता है और अन्तमें उसीमें विलीन भी हो जाता है। यह अनिरुक्त प्रजापति एक मकड़ी है जो निरुक्त प्रजापतिरूप सृष्टिके जालेको पैदा करता है और समय आनेपर अपने अंदर ही समेट लेता है। 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च......तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्।' वह केन्द्र है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालका यह कथन नितान्त उपयुक्त है—

'वही केन्द्र नाना आकृतियोंसे व्यक्त होकर निरुक्त प्रजापति बनता है। इस निरुक्त प्रजापतिका अन्तर्भाव अनिरुक्त प्रजापतिमें है। ये ही दो स्वरूप पूर्णताके परिचायक हैं।'

इस प्रकार वैदिक ऋषियोंने अपनी पारिभाषिक शब्द-

वल्लियोंके द्वारा वैदिक अध्यात्मवादको बड़े सुन्दर रूपसे प्रस्तुत किया है। उनके पारिभाषिक शब्दोंको समझ लेनेपर पूरा-का-पूरा रहस्य समझमें आ सकता है। वेदका ऋषि स्वयं कहता है—'जो वेदोंके अर्थोंको समझनेका प्रयत्न करते हैं उनके सामने वेदोंके रहस्य उसी प्रकार खुल जाते हैं, जिस प्रकार कामना करनेवाली एक स्त्री अपने पतिके सामने।'

× × ×

जीवनयात्राकी परम साधना

(लेखक—आचार्य श्रीशिवानन्दजी एम्० ए०)

इस संसारमें जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त जीवकी एक यात्रा होती है। किंतु मरण जीवनयात्राका लक्ष्य नहीं है। जीवका साध्य 'कैवल्यप्राप्ति' है। साधकको इस साध्यप्राप्तिके हेतु कोई साधना करनी चाहिये, कुछ साधन अपनाने चाहिये। दुःखोंसे विमुक्ति एवं परम सुखकी प्राप्ति साध्य है।

यदि कोई व्यक्ति मीलके पत्थरके चारों ओर ही चक्कर लगाता रहे तो दस वर्षमें भी वह वहीं रह जायगा, किंतु जो व्यक्ति मन्दगतिसे भी आगेको बढ़ता रहेगा, वह अवश्य ही कुछ मंजिल पार कर लेगा। अतएव दुःखोंसे मुक्त होनेके लिये, चैतन्यस्वरूप आत्मामें सहजभावसे संस्थित होनेके लिये हमें कुछ साधना, कुछ प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिये।

दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिके हेतु निवृत्तिमार्गको ही ग्रहण करना अभीष्ट है। जब मिट्टीका एक कण भी मेरा नहीं है, मेरा हो भी नहीं सकता है और मेरा अपना तो शरीर भी नहीं है, तब व्यर्थ ही मैं क्यों उनके साथ मोहके कारणसे लिप्त रहूँ ? यह मोह-बन्धन छूटना ही निवृत्ति है। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ; मैं अखण्ड, अभेद्य, अजर, अमर हूँ, मैं आत्मा हूँ। मैं जड शरीर नहीं हूँ। जीव इन्द्रियोंके द्वारा बाह्य विषयोंके सम्पर्कमें आकर अपने वासना-विकार एवं कषायके कारणसे उन्हें अपना मान लेता है जो एक भ्रम है, अज्ञान है। इस संसारमें सारे दुःख ही मोहके कारणसे उत्पन्न होते हैं। 'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।' अतः त्यागसे ही मार्ग प्रशस्त होगा।

किंतु गृहस्थी किसका त्याग करे ? व्यापार, धन, घर आदिका पूर्ण त्याग करनेपर तो गृहस्थ नहीं चल सकेगा। व्यापार छोड़कर बच्चोंका पालन, जीवन-निर्वाह, कर्तव्य-पालन करना सम्भव नहीं है। गृहस्थीके लिये तो प्रवृत्ति-मार्गकी भी आवश्यकता है। धनार्जनके हेतु वैध पुरुषार्थ करना उसका कर्तव्य है। किंतु उस प्रवृत्तिमार्गके साथ उसे श्लिष्ट होना, चिपकना नहीं चाहिये। प्रवृत्तिमार्गमें रहकर भी निवृत्तिमार्गको श्रेष्ठ मानकर उसे ही लक्ष्य मानना चाहिये। अतः प्रवृत्तिमें भी धीरे-धीरे निवृत्तिको ग्रहण करना—यह संतुलित स्थिति है।

निवृत्तिमार्ग कठिन है और प्रवृत्तिमार्ग सरल है। प्रारम्भमें ही गृहस्थीको निवृत्तिमार्गका पाठ सुपाच्य नहीं होता। छोटे बच्चेको पौष्टिक पदार्थ अपाच्य होता है; अतः उसे जलमिश्रित दूध, हल्का दूध देते हैं जो सुपाच्य होता है। ज्यों-ज्यों धीरे-धीरे बल बढ़नेपर पौष्टिक पदार्थका सेवन शरीरके लिये आवश्यक है, ऐसे ही गृहस्थमें रहकर धीरे-धीरे तत्त्वज्ञानपूर्वक अपरिग्रहका वरण आवश्यक है। संन्यास तो ले लिया और मनमें संसार बसा है तो वह निवृत्तिमें भी प्रवृत्ति है, जो निन्द्य है। गृहस्थमें रहते हुए अलिप्त रहना, अनासक्त होकर व्यवहार करना प्रवृत्तिमें निवृत्ति है। घरमें रहकर भी निर्मोही रहना श्लाघनीय है। प्रारम्भमें प्रवृत्तिमार्ग ग्रहण करनेपर ही निवृत्तिमार्गकी ओर बढ़ सकते हैं। प्रवृत्तिमें भी निवृत्तिका ग्रहण करके साधक मनुष्य ऐसा अलिप्त रह सकता है, जैसे कि जलमें रहकर भी कमल उससे अलिप्त रहता है। सांसारिक भोग्यपदार्थोंके मध्यमें रहकर मनुष्यको उनमें आसक्त नहीं होना चाहिये, जैसे कि मीठे हलुवेके मध्यमें रहकर भी चम्मच उसके स्वादसे अलिप्त रहता है। यदि अपरिपक्व रहकर संन्यास ले लिया और पर्वत-कन्दरामें भी जा बैठे, किंतु संसारके सुखोंका स्मरण हो रहा है, तो वह संन्यासमें भी गृहस्थ है। दूसरी ओर, घरमें बैठे हैं, सांसारिक कार्योंमें संलग्न हैं, किंतु उनसे सर्वथा अलिप्त हैं, तो वह गृहस्थमें ही संन्यास है, जो धन्य है। सद्गृहस्थी निरहंकारी होकर यथासम्भव

दान देकर भी अलिप्तताका पाठ सीखता है। हमारी साधनाका स्वरूप है—प्रवृत्तिसे निवृत्तिकी ओर बढ़ना।

प्रवृत्तिसे निवृत्तिकी ओर अग्रसर होनेके हेतु हमें धीरे-धीरे 'पर' और 'स्व'का निर्णय कर लेना चाहिये। 'पर'से दूर रहकर, परसे अलिप्त होकर 'स्व'की प्राप्ति करके स्वमें स्थित होना चाहिये। साध्यके निर्णय होनेपर ही साधनाका प्रारम्भ होता है। पर पदार्थोंसे विरक्ति होनेपर ही प्रभु-भक्तिके द्वारा मुक्ति प्राप्त होना सम्भव है। विषयोंसे-कषायोंसे विरक्ति अथवा पर-द्रव्योंकी आसक्तिका परित्याग होनेपर ही हम परमात्मतत्त्व-दर्शनके अधिकारी होते हैं। तभी आत्मस्वरूपमें सहजभावसे स्थित होना सम्भव है। 'मैं कौन हूँ?' 'मैं यह इन्द्रिय-मन-बुद्धियुक्त जड देह नहीं हूँ। मैं वस्तुतः चैतन्य हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। मैं ज्योति हूँ। पर मैं इन्द्रियोंके साथ संलग्न होकर इन्द्रियोंके वशीभूत होकर, विषयोंमें फँसकर पर द्रव्योंसे लिप्त होकर दुखी होता जा रहा हूँ। मैं स्थानभ्रष्ट हो गया हूँ। मैं इन्द्रियदास होकर किसी दुःखमय कुपथपर आरूढ़ हो गया हूँ। जब संसारके सभी पदार्थ मुझसे भिन्न हैं और मैं कुछ भी लेकर उत्पन्न नहीं हुआ हूँ और न मेरे साथ एक भी पदार्थ मृत्युके उपरान्त जायगा, तो फिर पर-द्रव्योंमें ममत्व जोड़ना तो एक बड़ी भूल है, भयानक भ्रम है। मैंने संसारमें आकर न जानें क्या-क्या पदार्थ यहींसे एकत्रित किये हैं और मैं उनका स्वामी बननेका मिथ्या पाखण्ड कर रहा हूँ; क्योंकि संसारको छोड़कर जाते समय मुझे इन सभी पदार्थोंको यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा। वास्तवमें संसारकी वस्तुओंमेंसे मिट्टीका एक कण भी मेरा नहीं है। मुझे समझ लेना चाहिये कि इनके प्रति आसक्ति, मोह करना एक अज्ञान है जो दुःखमूलक है।'

हम छोटी-छोटी बातोंके लिये युद्ध कर बैठते हैं। 'दियं लोभ चखना चखन लघु पुनि बड़ो लखाय।' लोभ-मोहका चश्मा लगा होनेके कारण तुच्छ भौतिक पदार्थ, पद, सम्पत्ति हमें महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामने राज्यको छोड़ दिया। न उन्हें राज्याभिषेकमें हर्ष हुआ, न वनगमनमें क्लेश ही हुआ। चारों भाइयोंमेंसे कोई भी राज्यको स्वीकार न कर रहा था, मानो 'फुटबाल'की भाँति ठोकर मारकर वे एक-दूसरेके पास फेंक रहे थे। यह भारतीय संस्कृतिकी ही विशेषता है। इसी भारतवर्षमें ही अन्य संस्कृतिवाले कई मुगलशासकोंने राज्यप्राप्तिके लिये अपने पिता और भाइयोंको कैद ही नहीं किया, अपितु उनकी हत्या भी की!

इस आत्मसाधनाका सारभूत है—'आत्मसंयम'। आत्मसंयमके बिना हमारी ब्रह्मचर्चा भी एक दम्भ है। मनका वशीकरण साधनाका आधार है। मनको स्थिर और निश्चल कर लेना चाहिये। आत्मसंयमसे ही मन बलवान् होता है। जबतक जलमें लहर उत्पन्न हो रही है, तबतक उसमें प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं होता। जबतक दीपककी लौ चञ्चल है, तबतक प्रकाश स्थिर और प्रशान्त नहीं होता। मनके स्थिर होनेपर ही मनन, चिन्तन तथा ध्यानके द्वारा आत्मामें ही प्रभुकी प्राप्ति होगी। दूधके बिलोनेपर दूधमेंसे ही घृत प्रकट होता है। हमें मनके चाञ्चल्यको परिसमाप्त कर देना चाहिये। जगत्को जीतनेसे पूर्व मनको जीतें। मन ही एक विशाल जगत् है। 'जितं जगत् केन? मनो हि येन।' यह शंकराचार्यजीकी उक्ति है। 'जगत्को किसने जीता है? जिसने मनको जीत लिया है।' मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' मनकी निर्मलता होनेपर ही परमात्म-तत्त्वका दर्शन होना सम्भव है। मनसे ही इन्द्रियोंको वशमें करना चाहिये।

> यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
> कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
>
> (गीता ३।७)

मनकी स्थिरता एक बल है। मनके स्थिर होनेपर ही ध्यानाग्निका प्रज्वलन सम्भव है, जिससे कि कर्म ऐसे दग्ध हो जाते हैं, जैसे वनाग्निसे महावृक्ष भी भस्मीभूत हो जाते हैं। साधकको चाहिये कि मनको अचञ्चल, सात्त्विक बनाये रखनेके लिये युक्ताहार-विहार करे, व्यर्थ शक्तिका क्षय न करे (जैसे कि बैठे-बैठे नाखूनोंको मुखसे कुतरना, तिनके तोड़ना, अँगुलियाँ चटखाना, निरर्थक घूमना, अनर्गल परचर्चा करना, तास आदि खेलना, आलस्यमें पड़े रहना आदि)। हम दिनभर जहाँ संतान, धन, पद, यश आदि भौतिक वस्तुओंका ध्यान करते हैं, वहाँ आत्म-कल्याणके लिये कुछ समय नियतरूपसे अवश्य ही ध्यान-पूजा करें। यदि शरीर जलसे शुद्ध होता है तो मन सत्याचरणसे शुद्ध होता है।

'अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।'

मनको निर्मल और सशक्त बनानेके लिये प्रभु-प्रार्थना सर्वोत्कृष्ट उपाय है । हम जैसी प्रार्थना करते हैं वैसे ही बन जाते हैं । अन्य साधन हैं—तीर्थयात्रा, स्तोत्रपाठ, मन्त्रजप, सत्संग, भजन, नामजप, कीर्तन, उपवास, मौन, तप, सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय आदि । कुछ अबोध जन जप-तप आदिके फलस्वरूप संतान, धन, पदोन्नति, यश आदि नश्वर एवं क्षणभङ्गुर भौतिक वस्तुओंकी कामना करते हैं । यह बेसमझी है । जप-तपादि तो प्रभुप्राप्तिके हेतु ही करने चाहिये और तन्मय होकर करने चाहिये । जैसे लाठीके सहारेसे हम कहीं दूर गन्तव्यतक चले जाते हैं, वैसे ही हम इन साधनोंके द्वारा परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार कर सकते हैं । जप-तप आदिका लक्ष्य परमात्मदर्शन होना चाहिये जो कि मानवके लिये सर्वोपरि है । यही लौकिक जीवन-यात्राका परम लक्ष्य है । परम भक्त तो आत्मसमर्पणके द्वारा अपने प्रत्येक कर्मको ही प्रभु-प्रसादके उद्देश्यसे प्रभुप्रीत्यर्थ करता है । उसका प्रत्येक कर्म ही, उसका उच्छ्वास भी प्रभु-पूजन है—प्रभु-प्राप्तिका साधन है । गीतामें भगवान्‌का दिव्य वाक्य है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
(९ । २७)

योगावतार लाहिड़ी महाशय

(लेखक—आचार्य श्रीप्रतापादित्यजी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, एडवोकेट)

आध्यात्मिक जीवनका प्रारम्भ

१८६१ का मधुमास था । श्यामाचरण लाहिड़ी दानापुरमें उस समय सेना-विभागमें आङ्किकके पदपर कार्य कर रहे थे । अचानक उन्हें बताया गया कि तारद्वारा उनका स्थानान्तरण रानीखेत होनेका आदेश प्राप्त हुआ है और वहाँ सेनाका एक नया कार्यालय स्थापित किया जा रहा है । श्यामाचरण लाहिड़ीने तुरंत आदेशका पालन किया और वे रानीखेत पहुँच गये । रानीखेतकी पहाड़ियोंका एकान्त जैसे उन्हें बार-बार खींचता हो और वे कार्यालयके कार्य सम्पन्न करनेके बाद प्रायः पहाड़ोंपर घूमा करते । कुछ ही दिनों बाद एक दिन दूर पहाड़ोंसे उन्हें अपनेको पुकारनेका स्वर सुनायी पड़ा । थोड़ा भ्रममें झिझकते हुए वे उस ओर बढ़े । उस स्थानके समीप पहुँचनेपर देखा तो एक कन्दराके पास एक युवा संन्यासी मुस्कराता हुआ खड़ा था, उनके स्वागतार्थ अपनी लम्बी भुजाओंको फैलाये । उस युवा संन्यासीने हिंदीमें कहा—'मैं ही तुम्हें बुला रहा था । आओ, इस गुफामें बैठो ।'

जब वे दोनों गुफामें प्रवेश कर गये तो युवा संन्यासीने गुफामें रक्खे हुए कम्बल और पूजा-सामग्रियोंकी ओर इशारा करते हुए पुनः हिंदीमें श्यामाचरणजीसे पूछा—'लाहिड़ी ! क्या तुम इन वस्तुओंको पहचान रहे हो ?' श्यामाचरणजीने कुछ झिझकते हुए उत्तर दिया—'नहीं ।' और इस विचित्र रहस्यात्मक परिस्थितिके अटपटेपनसे शीघ्र मुक्ति पानेके लिये कहा कि 'उन्हें कार्यालयमें कुछ कार्य है, अतः शीघ्र वापस जाना है ।' युवक संन्यासीने मुस्कराते हुए अबकी बार अंग्रेजीमें कहा, 'कार्यालय तुम्हारे लिये यहाँ बुलाया गया है, कार्यालयके लिये तुम नहीं । तुम्हारे बड़े अधिकारीको तार भेजकर तुम्हें बुलवानेकी प्रेरणा देनेवाला मैं ही था ।' मनको प्रेरित करनेकी इस घटनाका तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत करते हुए युवा साधुने कहा—'जब किसी व्यक्तिका मन मानव मात्रसे एकात्मताका बोध प्राप्त कर लेता है तब वह किसी भी मनसे अपनी इच्छाकी पूर्ति करा लेता है ।' और, जैसे श्यामाचरणजीकी पूर्वस्मृतिको कुरेदते हुए उन्होंने कहा—'तुम्हें इन वस्तुओंको पहचानना चाहिये ही ।' और इन शब्दोंके साथ ही उन्होंने श्यामाचरणजीके मस्तकपर अपने हाथोंका स्पर्श दिया । स्पर्शके साथ-साथ श्यामाचरणके मस्तिष्कमें स्मृतिकी बिजली कौंध गयी; उनकी स्मृतिमें एक-पर-एक दृश्य आने लगे और वे अस्पष्ट शब्दोंमें बोल उठे—'आप—मेरे गुरुदेव, बाबाजी हैं—आप सदा-सर्वदा मेरे अपने रहे हैं, आपके साथ मैंने पूर्वजन्मके कई वर्षोंको बिताया है—यह मेरे उपयोगमें आनेवाला कम्बल है और—घटनाके दूसरे पक्षको पूरा करते हुए युवा सद्गुरुने कहा—'तीन दशाब्दियोंसे अधिक मैंने तुम्हारी

प्रतीक्षामें विताये हैं। कृतकर्मोंके परिणामस्वरूप तुम्हें हठात् अपनी देह छोड़नी पड़ी और तुम जीवनके परे मृत्युकी गोदमें चले गये। तुमने मुझे अपनी दृष्टिसे ओझल कर दिया था; किंतु, मेरी दृष्टि तुमपर बराबर लगी रही। अन्धकार, प्रकाश, तूफान, शून्यता, उथल-पुथलके बीचमें, पक्षीके नये बच्चेको जैसे उसकी माँ उसकी हर कच्ची उड़ानमें सँभालती रहती है, उसी प्रकार मैं तुम्हें सँभालता रहा। तुम्हारे जन्मके बाद तुम्हारी इस पक्वावस्थाकी प्रतीक्षा करता रहा। तुम जब बच्चे थे तो नदियाकी रेतोंके बीच तुम्हारी हर ध्यानमुद्राको अलक्ष्य रूपमें मैं प्रेरित करता। तुम्हारी पूजाके उपकरणोंको इन वर्षोंमें मैं यत्नपूर्वक सँभाले रहा।' भावविभोर श्यामाचरण सद्गुरुकी करुणामूर्तिको अपलक देखते रहे और मन-ही-मन सद्गुरुके दिव्य प्रेममें अवगाहन करते रहे। थोड़ी देरकी आयी हुई इस भाव-भीनी निस्तब्धताको तोड़ते हुए युवक सद्गुरु बोले—'तुम्हें शुद्धीकरणकी आवश्यकता है'—और एक पात्रमें रक्खे हुए पेयकी ओर इशारा करते हुए उन्होंने आदेश दिया—'इसे पी लो और पहाड़ीके नीचे बहती हुई नदीमें स्नान करके वहीं पड़े रहो।'

श्यामाचरणने आदेशका यथावत् पालन किया। पर्वतीय हिमशीतल झकोरे शरीरसे छूकर वापस चले जाते और अन्तरकी गरमीके सुखद अनुभवको और प्रच्छन्न कर देते, मानो बाह्य-प्रकृति और अन्तःप्रकृतिमें साम्य उपस्थित करनेके लिये संघर्ष छिड़ गया हो। यह क्या—श्यामाचरणका मन तेजीसे बदल रहा था—गोगाश नदीकी हिमशीत लहरियाँ उनके शरीरमें सिहरन पैदा कर देतीं, शेरोंका गर्जन समीप ही सुनायी पड़ता, किंतु श्यामाचरण बाह्य प्रकृतिकी भयानकतासे अप्रभावित अन्तरकी आध्यात्मिक गुदगुदीसे खेलते हुए, सद्गुरुके आदेशकी प्रतीक्षामें पड़े थे। किसीकी पगध्वनिसे आकृष्ट होकर देखा तो कोई उन्हें हाथोंका सहारा देकर जमीनसे उठा रहा था और कह रहा था—'भाई चलो, गुरुदेव तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।' और वे दोनों जंगलकी ओर बढ़ चले।

वे थोड़ी दूर चले कि उनको प्रभातकालीन प्रकाशके समान एक ज्योतिपुञ्ज दिखायी पड़ा। श्यामाचरणजीने आश्चर्यमिश्रित स्वरमें सहयात्रीसे प्रश्न किया—'क्या प्रभात-कालीन सूर्य निकल रहा है। अभी तो रात्रि शेष होनी चाहिये।' पथदर्शकने मुस्कराते हुए कहा—'यह अर्द्धरात्रि है। सामने दिखायी पड़नेवाला प्रकाश स्वर्ण-आभायुक्त एक आवास है। जीवनके किन्हीं वर्षोंमें आपने एक ऐसे ही महलकी इच्छा की थी और उसका संस्कार बना लिया था। आज गुरुदेव आपकी इस एकमात्र इच्छा (संस्कार) को संतुष्ट करके आपको सर्वदाके लिये कर्मबन्धनसे मुक्त करना चाहते हैं। यही भवन आपकी दीक्षाका स्थान होगा।' धीरे-धीरे इस दिव्य भवनमें दोनोंने प्रवेश किया। पूर्णतः सुसज्ज इस भवनमें अनेक साधक ध्यानमग्न बैठे थे। एक दिव्य वातावरणसे आपूरित इस भवनके निर्माणके विषयमें प्रश्न करनेपर पथप्रदर्शकने कहा—'यह सम्पूर्ण विश्व भूमा-मनकी विराट् कल्पनामें निर्मित है और इसकी धारकशक्ति परमाणुओंको उनकी इच्छाशक्ति संयुक्त किये रहती है। गुरुदेव उसी भूमा-मनसे अपनेको एकाकार कर चुके हैं, अतः अपनी इच्छासे वे भी किसी भी रूपका निर्माण कर सकते हैं। यह भवन भी ठीक उसी प्रकार आपेक्षिक सत्य है, जैसे वस्तुजगत्। गुरुदेवने अपनी चित्त-धातुसे भवनका निर्माण किया है और उसके प्रत्येक अणु-परमाणुको वे अपनी इच्छाशक्तिसे धारण किये हुए हैं। एक स्वर्णपात्र और उसमें जटित रत्नोंकी ओर इशारा करते हुए पथप्रदर्शकने कहा—'लो इसे देखो, भौतिक जगत्की सभी परीक्षाओंमें यह भौतिक जगत्के उपादानोंके ही समान दिखेगा।' और श्यामाचरणजीने उसकी थोड़ी-बहुत परीक्षा करके देखा वह वास्तविक था।

जब वे युवा योगीके पास पहुँचे तो उन्होंने श्यामाचरणजीसे पूछा—'लाहिड़ी! क्या तुम अब भी स्वर्णमहल-की कल्पना करोगे? जागो, आज तुम्हारे जीवनकी सभी इच्छाएँ सदाके लिये पूर्ण होने जा रही हैं। क्रियायोगकी दीक्षा-द्वारा आध्यात्मिक जगत्में प्रवेश करो।' दीक्षा समाप्त हुई और उसके साथ ही भौतिक जगत्का कल्पनामहल सर्वदाके लिये श्यामाचरणजीके मनसे समाप्त हो गया। सद्गुरुके आदेशानुसार उसी कन्दरामें उसी कम्बलपर एक सप्ताह-तक श्यामाचरणजीने साधना की और जब पूर्वजन्मकी सम्पूर्ण मनःस्थितिका उदय हो गया तो आशीर्वाद देते हुए और भावी कार्यक्रमका संकेत करते हुए युवा योगीने कहा—'मेरे पुत्र! इस जीवनमें तुम्हारा कार्यक्षेत्र अब जन-संकुल समाजके बीच होगा। कई जन्मोंतक एकान्त साधनाके द्वारा उपार्जित शक्तियोंके साथ तुम्हें जन-समाजमें मिलकर रहना है। इस जीवनमें विवाह और पूर्ण उत्तरदायित्वोंके बाद ही जो तुम मुझसे मिले हो,

उसके पीछे एक निश्चित उद्देश्य है। तुम्हें अलक्ष्य रहकर साधना करनेकी इच्छाका परित्याग करना होगा। तुम्हारा कार्यक्षेत्र जन-समाज है, जहाँ तुम्हें एक गृहस्थ योगीके आदर्शकी स्थापना करनी है, उनमें यह आत्म-विश्वास जगाना है कि वे किसी भी उच्चातिउच्च आध्यात्मिक उपलब्धिके सर्वथा योग्य हैं। अनेक सांसारिक मनुष्योंकी आर्त्त पुकार अनसुनी नहीं हुई है। तुम्हें क्रियायोगके प्रचारद्वारा अनेक व्यक्तियोंको आध्यात्मिकता प्रदान करना है।'' श्यामाचरणजी अनेकानेक जन्मोंसे गुरुसम्पर्कको पाकर छोड़ना नहीं चाहते थे, किंतु, योगी युवकने आदेश दिया—'हमारे लिये कभी कोई अलगाव नहीं है। मेरे प्रिय! तुम जहाँ भी मुझे बुलाओगे, मैं तुम्हारे सम्मुख तुरंत उपस्थित हो जाऊँगा।'

आशीर्वादका प्रयोग

लगभग दस दिनों बाद श्यामाचरणजी अपने कार्यालय वापस लौटे। वहाँके लोग यह समझते रहे कि श्यामाचरण रानीखेतके जंगलोंमें मार्ग भूल गये थे। किंतु उन्हें क्या पता था कि वे मार्ग भूले नहीं, बल्कि वह मार्ग पा गये,—जो मार्ग अनन्त आनन्दका शाश्वत मार्ग है, जिसे पानेके लिये अनेक जन्मोंकी साधना आवश्यक है। श्यामाचरणजीके वापस लौटनेके साथ-ही-साथ शीर्षकार्यालयका पत्र उन्हें प्राप्त हुआ, जिसमें यह आदेश दिया गया था कि वे दानापुर कार्यालय वापस चले आवें; क्योंकि उनका स्थानान्तरण भ्रमवश हो गया था।

रानीखेतसे दानापुर लौटते समय रास्तेमें मुरादाबादमें एक बंगालीपरिवार (मोइत्रा महाशय) के यहाँ श्यामाचरणजी दो-एक दिनोंके लिये रुके। वहाँ युवा मित्रोंकी मण्डलीमें अध्यात्म-विषयक चर्चा होनेपर मोइत्रा महाशयने कहा कि 'आजकल वास्तविक संत कहाँ उपलब्ध हैं।' इसपर उत्तेजित होकर श्यामाचरणजीने कहा कि 'भारतभूमि कभी भी उच्च शक्तिसम्पन्न संतोंसे रहित नहीं रही है और आज भी वैसे संत मौजूद हैं।' इसी संदर्भमें उन्होंने अपने पूर्वानुभवोंकी चर्चा की। उपस्थित मण्डलीने उन्हें समझाते हुए कहा कि 'उनका मस्तिष्क पहाड़के एकान्तमें भयाक्रान्त होनेके कारण भ्रमित हो गया था।' सत्यके प्रत्यक्ष अनुभवोंसे आपूरित श्यामाचरणजीने अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिये योगी सद्गुरुके उस आशीर्वादको बताया, जिसके द्वारा उन्होंने श्यामाचरणजीको यह आशीर्वाद दिया था कि उनके आवाहित करनेपर वे प्रत्यक्ष हो सकते हैं। उपस्थित लोगोंने उसका प्रमाण माँगा और तब श्यामाचरणजीने एकान्त कमरेमें सद्गुरुको आवाहित करना प्रारम्भ किया। मित्रमण्डली कमरेके द्वारपर चौकसी कर रही थी। थोड़े ही समयमें कमरा प्रकाशसे भर गया और युवा संन्यासी देश, काल, पात्रके बन्धनोंको तोड़ते हुए प्रकट हुए; किंतु उनकी मुद्रा गम्भीर थी। उन्होंने किंचित् गम्भीरतापूर्वक कहा, 'लाहिड़ी! क्या तुमने मुझे एक खेलके लिये बुलाया है? आध्यात्मिक सत्य वास्तविक जिज्ञासुओंके लिये है, न कि किसी व्यक्तिकी साधारण उत्सुकताकी शान्तिके लिये।' श्यामाचरणजीको अपनी भूलका भान हो गया, किंतु पुनः प्रार्थना करते हुए उन्होंने निवेदन किया कि 'उनका उद्देश्य नास्तिकोंको आस्तिक बनानेका एक प्रयोग था, इसलिये उसको सफल बनाकर ही वे जायें।' उनकी यह प्रार्थना स्वीकृत तो हुई अवश्य, किंतु इस शर्तपर कि भविष्यमें सद्गुरु आवश्यकता समझकर ही प्रकट होंगे। आदेश पाकर श्यामाचरणजीने द्वार उन्मुक्त किया और विस्फारित नेत्रोंसे सम्पूर्ण मण्डलीने सद्गुरुके दर्शन किये; किंतु इतनेपर भी उनमेंसे एक लौकिक ज्ञानकी उद्दण्डतासे प्रेरित होकर बोल उठा,—'यह तो सामूहिक सम्मोहन है, यह वास्तविकता नहीं है; क्योंकि कोई भी हमारी जानकारीके बिना कमरेमें प्रविष्ट ही कैसे होता।' युवा साधुने हँसते हुए सबको अपने मांसल शरीरका स्पर्श दिया और विगत-मोह युवकमण्डली दण्डायमान होकर प्रणत हो गयी। सद्गुरुने अपनी उपस्थिति-को और प्रमाणित करनेके लिये कहा कि 'जलपानके लिये हलुआ तैयार करो।' और जलपान तैयार होनेतक वे विभिन्न विषयोंपर वार्ता करते रहे, सबके साथ-साथ जलपान किया और सबके सामने ही चित्तद्वारा सूक्ष्म शरीरको एक विचित्र ध्वनिमें विलीन कर दिया।

इन पंक्तियोंके पाठक भी इसे सम्भवतः दन्तकथा ही समझते हों; किंतु किसी घटनाको यद्यपि ऐतिहासिकताका प्रमाण-पत्र इतिहासविभाग या पुरातत्त्वविभाग ही देनेका दावा करता है, फिर भी इस घटनाका विवरण जिन पुस्तकोंमें प्राप्य है, उनका ही प्रमाण साहित्य और दर्शनका शोधकर्त्ता दे सकता है। इन घटनाओंका विशद विवरण

तथा श्यामाचरणजीके विषयमें दो पुस्तकोंमें तथ्य उपलब्ध हैं। १९४१में प्रथम वार एक पुस्तक बंगलामें 'श्रीश्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय' नामसे प्रकाशित हुई, जिसमें उनके जीवनका सविस्तर वर्णन है। दूसरी पुस्तक 'श्रीयोगानन्दकी आत्मकथा' है जो 'एक योगीकी आत्मकथा' नामसे प्रथम वार कैलीफोर्नियाकी एक प्रकाशन संस्था-द्वारा १९४६ में प्रकाशित हुई थी और दूसरी वार जैको पब्लिशिंग हाउस, बम्बईद्वारा १९६३में प्रकाशित हुई थी। इन दो सूत्रोंके अतिरिक्त तन्त्रसाधकोंकी व्यक्तिगत चर्चाओंमें श्रीलाहिड़ी महाशय और उनके गुरुदेवके विषयमें कुछ तथ्य प्राप्त हुए हैं। लेखकको ऐसे तन्त्रसाधकोंका साक्षात्कार हुआ है, जिन्होंने लाहिड़ी महाशयसे साक्षात्कार किया है और उनके तथा उनकी परम्पराओंके वे प्रत्यक्षदर्शी थे।

जन्म और जीवन

लाहिड़ी महाशयका जन्म ३० सितम्बर १८२८ ई० को बंगालमें कृष्णनगरके समीप नदिया जिलेके अन्तर्गत घूर्नी ग्राममें हुआ था। उनके पिताका नाम श्रीगौरमोहन• लाहिड़ी और उनकी माताका नाम मुक्तकाशी था। उनका पूरा नाम श्यामाचरण लाहिड़ी था। तन्त्रसाधकोंमें वे लाहिड़ी महाशयके नामसे प्रसिद्ध जाने जाते थे। लगभग ३-४ वर्षोंसे ही उनमें आध्यात्मिक प्रवृत्तिके लक्षण उदित हो गये थे और प्रायः नदियाकी वालुकाओंमें लिपटे हुए वे ध्यानमग्न पाये जाते थे। १८३३में उनका गाँव जलमग्न हो गया, अतएव उनका परिवार वाराणसीमें आकर रहने लगा। इस प्रकार बंगालमें जन्म लेकर भी जीवनका अधिकांश उन्होंने उत्तर प्रदेशकी परम पुनीत नगरी काशीमें विताया। अपने विद्यार्थीजीवनमें न केवल विद्याध्ययनमें वल्कि खेल-कूदमें भी आप परम कुशल थे। संस्कृत, बंगला, फ्रेंच और अंग्रेजीका आपने अच्छा अध्ययन किया था।

१८४६में आपका विवाह श्रीमती काशीमुनीसे सम्पन्न हुआ और उनके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। १८५१में आपने सेना-विभागके इंजीनियरिंग विभागमें नौकरी स्वीकार की और १८८६ तक नौकरी करके सेवानिवृत्त हुए। इसी बीच पिताकी मृत्युके बाद उन्होंने गरुड़ेश्वर मुहल्लामें एक मकान भी खरीदा और मृत्युपर्यन्त वहीं रहकर जिज्ञासु साधकोंको क्रियायोगकी दीक्षा दिया करते थे। आपने २६ सितम्बर १८९५ को यह नश्वर शरीर त्याग दिया और तन्त्रसाधकोंकी श्रुतियोंके अनुसार अपने गुरुदेवकी सदा-सर्वदा वर्तमान रहनेवाली गुरुमण्डलीमें सम्मिलित हो गये।

कुछ श्रुतियाँ और सद्गुरु

लाहिड़ी महाशय तथा उनके युवागुरु, जो 'बाबाजी' नामसे प्रसिद्ध हैं, तारकब्रह्मकी उस संस्थाके नामसे जाने जाते हैं, जो सदा-सर्वदा जिज्ञासु साधकोंको योग और तन्त्रकी साधना बताकर उनका कल्याण किया करते हैं। कहते हैं बाबाजी आज भी अपनी मण्डलीके साथ भारतवर्षमें एक ऐसी तान्त्रिक क्रान्तिका मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं जो भारतवर्षके इतिहासमें केवल तीन बार सम्पन्न हुआ है, एक तो सदाशिवके रूपमें, दूसरे महापुरुष श्रीकृष्णके रूपमें और तीसरे महापुरुष बुद्धके रूपमें। वैसे अलक्ष्य रूपमें आपने ही शंकराचार्यको काशीमें ब्राह्मी साधनाकी दीक्षा दी थी, जमालपुरके जंगलोंमें बाबा गोरखनाथको तान्त्रिक दीक्षा दी थी और श्रीरामकृष्ण परमहंसके गुरु तोतापुरीजीको दीक्षा दी थी। आज भी बाबा नामसे पुकारनेपर साधक उनकी कृपा आकर्षित करते हैं और यदि उन्मुक्त दृष्टिसे ढूँढ़ें तो उन्हें पा भी सकते हैं।

श्रीहरि वहीं विहार करते हैं

यत्र निर्लिप्तभावेन संसारे वर्तते गृही।
धर्मं चरति निष्कामं तत्रैव रमते हरिः॥

जहाँ गृहस्थ पुरुष संसारमें निर्लिप्तभावसे रहता हुआ धर्माचरण करता है, वहां श्रीहरि विहार करते हैं।

सिद्धपुरुष और उनकी भगवदुपासना

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

वास्तवमें संसारमें सच्चे सिद्ध तो एकमात्र भगवान् ही हैं—

अजः सर्वेश्वरः सिद्धः[1] सिद्धिः सर्वादिरच्युतः।
(महा० अनु० विष्णुसहस्र० स्तो० १४९ । २४)
सुलभः सुव्रतः सिद्धः शत्रुजिच्छत्रुतापनः।
(महा० अनु० विष्णुसहस्र० स्तो० १४९ । १०१)

अन्य जीवोंको सिद्धि तो उनके कृपाकटाक्षपर ही निर्भर है—

सिद्धार्थः सिद्धसंकल्पः सिद्धिदः सिद्धिसाधनः।
(महा० अनु० विष्णुसहस्र० स्तो० १४९ । ४०)
'श्रियाः श्रीश्च' (वाल्मीकि० २ । ४४ । १५)
कः श्रीः श्रियः परमसत्त्वसमाश्रयः कः।
(आलवन्दार० १५)
'श्रियः श्रियं भक्तजनैकजीवितं' (आलवन्दार० ४८)

हरि हरहि हरता बिधिहि बिधिता सिवहि सिवता जो दई।
सोइ जानकीपति मधुरमूरति मोदमय मंगलमई॥
(विनय-पत्रिका १३५ । ३)

भवानीशंकरौ .... ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥'
(राम० १ । २ श्लो० इत्यादि)

शास्त्रोंको ध्यानपूर्वक देखनेसे पता लगता है कि सिद्धोंके अनेक भेद हैं। वाल्मीकिरामायण सुन्दरकाण्डके आरम्भमें इनका भेद दृष्ट है। सिद्धयोनिके अतिरिक्त मन्त्रसिद्ध, तपःसिद्ध, ज्ञानसिद्ध, योगसिद्ध, उपासनासिद्ध, मण्यौषधिसिद्ध आदि अनेक प्रकारके सिद्ध निर्दिष्ट हैं।

बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥

—आदि प्रकरणोंमें 'सयाने' पद-विशिष्ट 'सिद्ध' ज्ञानोपासना-सिद्धका ही निर्देशक दीखता है। भागवत एवं गीतामें भी कई बार 'सिद्धः, संसिद्धः' शब्द इसी अर्थमें आया है। यथा—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥
(श्रीमद्भा० ६ । १४ । ५)
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।
(गीता ७ । ३)
'सिद्धानां कपिलो मुनिः।' (१० । २६)

इनमें प्रायः जीवन्मुक्त ज्ञानियोंको ही सिद्ध शब्दसे निर्दिष्ट किया गया है। श्रीमधुसूदन सरस्वतीने सनकादि, नारद, व्यास, कपिल, प्रह्लाद, शुकदेव, पृथु आदिको सिद्धोपासक माना है[2]। वे लिखते हैं कि इन लोगोंकी उपासना दृष्टमात्रफला ही होती है। विस्तारसे समझाते हुए मधुसूदनजी लिखते हैं कि सनकादि सिद्धोंमें उपासना दृष्टफला ही होती है। जैसे ग्रीष्म-संतप्त पुरुषका गङ्गास्नान दृष्टादृष्टफलक होता है, वैसे ही वैधी उपासनामें भी निदाघतप्त प्राणीके गङ्गावगाहनवत् सुखाभिव्यक्ति होती है। अतः वह दृष्टादृष्टफलक है, किंतु यदि शीत-वातातुर व्यक्ति गङ्गास्नान करता है, तो उसे जैसे अदृष्ट-मात्र ही फल होगा, उसका दृष्टांश प्रतिबद्ध होगा, वैसे ही राजसी, तामसी उपासनाका सुखरूप दृष्टांश प्रतिबद्ध रहता है। गङ्गास्नान एवं भोजनादि कर लेनेपर पुनः गङ्गाजलमें क्रीडा करनेवालोंको जैसे केवल दृष्टमात्र ही फल होता है, वैसे ही जीवन्मुक्त सनकादि सिद्धोंकी उपासना सर्वथा शुद्ध एवं निष्काम होनेसे दृष्टमात्र फल-पर्यवसायिनी ही होती है। ये सिद्धोपासक एक तो साक्षात् भगवत्स्वरूप होते हैं, साथ ही उनके पूर्वोत्तर उभय अदृष्ट ही निर्मूल हो जाते हैं[3]। अतः उनकी यह उपासना

---

१. ऐसे शब्द अन्य विष्णु, शिवादि सहस्रनामोंमें भी हैं।

२. देखिये, मधुसूदन सरस्वतीकृत गीता-गूढार्थदीपिका।

३. वर्तमानतनुं प्राप्य फलं दृष्टमुदाहृतम्।
भाविदेहोपभोग्यं यत्तददृष्टमुदीरितम्॥

प्रत्यक्ष सुखद होती है—अतः उनकी उपासनाको निर्हैतुकी कहा गया है[4]—

शुद्धसत्त्वोद्भवाप्येवं साधकेष्वसदादिषु।
दृष्टमात्रफला सा तु सिद्धेषु सनकादिषु॥
दृष्टादृष्टफला भक्तिस्सुखव्यक्तेर्विधेरपि।
निदाघदूनदेहस्य गङ्गास्नानक्रिया यथा॥
रजस्तमोऽभिभूतस्य दृष्टांशः प्रतिबध्यते।
शीतवातातुरस्येव नादृष्टांशस्तु हीयते॥
तथैव जीवन्मुक्तानामदृष्टांशो न विद्यते।
स्नात्वा भुक्तवतां भूयो गङ्गायां क्रीडतां यथा॥
(भक्तिरसायन २ । ४६–४९)

भगवान् शंकर, विष्णु आदिकी परस्परोपासना भी एतादृश ही है। भारतीय अद्वैतादि दर्शनोंके अनुसार तथा उपासना-साहित्यके अनुसार भी इनमें तथा उपास्यमें कोई अन्तर नहीं रह जाता—उनमें भी भगवान्‌के ही सदृश कारुण्य, सौशील्य, औदार्य, औज्ज्वल्य दृष्ट होने लगता है—

संत भगवंत अंतर निरंतर नहिं
किमपि कहत मतिमंद दास तुलसी॥

श्यामका स्वभाव

(१)

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

आपका कुछ परिचय है मैया यशोदाके लाड़लेसे ?

श्रीव्रजराजकुमारसे परिचय करनेकी इच्छा है आपकी ?

देखिये, यह नन्दबाबाका लड़का अभी बहुत नन्हा है। बहुत सुन्दर, बहुत सुकुमार है तो क्या हुआ—बहुत भोला है। ठीक-ठीक कछनी तो इसे अपनी कटिमें लपेटनी नहीं आती। मैया पहना दे तो ठीक, वह पास न हो; क्योंकि अनेक बार यह खेलमें उसे खोल फेंकता है और तब फिर दाऊ भैयाके सामने जा खड़ा होता है—'दादा ! तू पहना दे।'

लेकिन इतने इस भोले कन्हाईको पता नहीं, क्या-क्या आता है। पता नहीं, कहाँ-कहाँकी बातें मौज आती है तो करने लगता है। जो जीमें आती है, बोलता है और जो जीमें आती है, कर लेता है। कोई नहीं कह सकता कि धुन चढ़ जाय तो कन्हाई अमुक काम कर नहीं सकता।

बहुत भोला, बहुत नन्हा है श्यामसुन्दर। इसलिये सबसे अच्छा लगता है इसे अनुकरण करना और यह अनुकरण इतना अच्छा, इतना सच्चा कर लेता है कि पूछिये मत। हम आप तो क्या, सृष्टिकर्ता तक सिर पकड़के बैठ जायँ इसका अनुकरण देखकर।

आप इस गोपालसे परिचय करना चाहते हैं ?

मत पूछिये कि 'यह कहाँ मिलेगा ?'

'बिना मिले परिचय ?'

'जी—कहा नहीं कि इसका भोलापन असीम है। आप एक चित्र, एक लकड़ी-पत्थरकी मूर्ति ले लीजिये। सुन्दर, असुन्दर—ऊट-पटाँग कैसी भी और कहिये'—'कृष्ण ! यह तू है।'

कन्हाई निश्चय कहेगा—'हाँ, यह मैं हूँ।'

अब किसके मुखमें हाथ भरकी जीभ है कि वह कहेगा कि 'यह मूर्ति या चित्र श्रीकृष्ण नहीं है।'

'यह मैं तेरी पूजा कर रहा हूँ।' आप दूब, तुलसी, जल, फूल—क्या चढ़ा रहे हैं, इसे कौन देखता है। गोपका नन्हा बालक कहाँ समझता है कि पूजा क्या होती है और कैसे होती है। पूजाके मन्त्र, पूजाके

४. आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ (श्रीमद्भा० १।७।१०)

पदार्थ—यह सब विद्वानोंके लिये रहने दीजिये। आप कर लीजिये पूजा। जैसी आपको आती है—जो कुछ आपके पास है उससे।

'अच्छा, तुम मेरी पूजा करते हो ? बहुत अच्छे हो तुम।' श्यामको पूजा स्वीकार है तो 'पूजा सम्यक् परिपूर्ण नहीं है' यह कहनेका कोई साहस करेगा ?

'यह देवता नहीं है—पत्थर है।' लोगोंने कहा।

'हाँ पत्थर है।' गोपालको तो अनुकरण ही आता है।

'हमारा धर्म है मूर्तिको तोड़ना। हम इसे तड़ेंगे।' लोगोंने यह भी कहा।

'तोड़ दो ! तुम्हारा धर्म है तोड़ना—तोड़ो !' कृष्णचन्द्रको तो मूर्ति-भञ्जनमें भी पूजन-जैसा ही आनन्द आया। उसे खिलौनोंसे खेलनेमें आनन्द आता है तो सखा जब कोई खिलौना धड़ामसे पटककर फोड़ देते हैं तो उसमें भी आनन्द आता है। वह तो उछल-कूदकर तब ताली बजाता है।

'ईश्वर नहीं है।' आपने कहा।

'हाँ—नहीं है ईश्वर। क्या आवश्यकता है ईश्वरकी।' लीजिये, इस नटखटने छुट्टी कर दी। अब आप जानो और आपका काम जाने। आपके लिये ईश्वर नहीं है। आपको अब ईश्वरसे कोई सहायता, स्नेह, सुविधा पानेकी आशा नहीं करनी चाहिये। ईश्वर आपके निर्माण—पतनोत्थानमें टाँग अड़ाने अब नहीं आवेगा।

आप उसके विधानमें टाँग अड़ावेंगे !

इस धोखेमें मत रहिये। उसका विधान छुईमुई नहीं है। जबतक उसके विधानकी सीमामें आप उछल-कूद करते हैं, ठीक है; किंतु आपने उस सीमाके अतिक्रमणकी चेष्टा भी की तो..........भाई मेरे ! चींटी समुद्र तैरने जायगी तो क्या होगा ?

आप हिमालयपर सिर पटकेंगे तो हिमालय टूटेगा या आपका सिर ?

अतः ईश्वरके विधानकी चिन्ता मत कीजिये।

अपनी चिन्ता कीजिये। अपनी चिन्ता करनेवालोंमें ही हैं जो कहते हैं—'ईश्वर है; किंतु निराकार है।'

श्रीकृष्णचन्द्रको तो जैसे प्रतिध्वनि करनी आती है—

'हाँ, ईश्वर निराकार है।'

'ईश्वर निराकार तो है; किंतु सगुण है। अनन्त दयालु, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ है।'

'हाँ—अनन्त दयालु, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ है।'

अब लीजिये—ईश्वर आपसे तटस्थ नहीं रह गया। वह अनन्त दयालु, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ होकर आपसे तटस्थ कैसे रह सकता है ? अब आप उसकी दयापर, उसकी सामर्थ्यपूर्ण सहायतापर निर्भर रह सकते हैं। आप पुकारिये। आप प्रार्थना कीजिये—वह सुनेगा।

'नहीं सुनता।'

यह आपने क्या कहा ? ऐसा कैसे हो सकता है कि आप पुकारें और आपका सर्वज्ञ, अनन्त दयालु, सर्व-समर्थ ईश्वर न सुने।

रुकिये ! आपने ठीक पुकारा ?

'ठीक पुकारना क्या ?'

अरे भाई ! आप इसे ईश्वर-परमेश्वर कुछ भी कह लो, है तो यह नन्द बाबाका लाला ही। बाबाने इसे कुछ पढ़ाया-लिखाया नहीं। गोप-बालक वैसे भी गुरु-गृह नहीं जाते और श्याम तो अभी नन्हा है। इसे कहाँ संस्कृत या पद-भजन समझमें आते हैं। लच्छेदार भाषा यह समझता कहाँ है। यह समझे, ऐसी भाषामें आपने इसे पुकारा ?

'कौन-सी भाषा यह समझता है ?'

केवल हृदयकी भाषा ! हृदयकी भाषा तो यह गायों तककी समझ लेता है, आप तो मनुष्य हैं। इसकी भाषामें इसे पुकारिये, सुनेगा कैसे नहीं।

'ईश्वर—'ब्रह्मतत्त्व निर्गुण, निराकार, निर्विशेष है। अपनेसे अभिन्नरूपमें उसकी अनुभूति होती है।' ऐसे प्रकाण्ड दार्शनिकोंका भला श्रीकृष्णसे क्या प्रयोजन ? निर्विशेषको तो हाँ-ना कुछ करना नहीं। प्रयोज्य-प्रयोजक-प्रयोजन, हम-तुम-वहका भेद ही वहाँ नहीं है।

ब्रह्मरूप ऐसे महापुरुषोंकी चर्चा मैं नहीं करता। कन्हाई भी उन्हें बाबा या मैयाके सिखलानेपर दोनों नन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम ही करता है।

चर्चा आपकी—आप व्रजराजकुमारसे परिचय करना चाहते हैं न ?

अच्छा, एक महत्त्वपूर्ण बात—'ईश्वर निष्ठुर है, क्रूर है, पक्षपाती है।' ऐसी बात भूलकर भी मत सोचिये।

'क्यों ?'

इसलिये कि इस नटखटको अनुकरण ही तो करना आता है। कहीं इसने भी कह दिया—'हाँ, ईश्वर निष्ठुर है, क्रूर है, पक्षपाती है।'

क्या बिगाड़ लेंगे आप इसका ?

आपका तो सब बिगड़ा ही धरा है ऐसी दशामें।

'तब ?'

इस क्रमसे चलिये—

'कनूँ ! तू ईश्वर है ?'

'हाँ, मैं ईश्वर हूँ।' कृष्ण दूसरा कुछ कह नहीं सकता।

'तू कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका परमेश्वर, सबकी सृष्टि-उत्पत्तिका परम नियन्ता है।'

'हाँ—हूँ।'

'तू सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, अनन्त करुणार्णव, सर्वेश्वरेश्वर है।'

'सो तो हूँ ही।'

'और मैं तेरा हूँ।' दृढ़तासे—पूर्णतासे कहिये।

'हाँ तू मेरा है।' उतनी दृढ़तासे, उतने झटकेसे स्वीकृतिमें सिर हिलाकर श्याम कहेगा—कहेगा ही। बस, और क्या चाहिये आपको।

लोगोंने कहा—'तुम मेरे स्वामी हो !'

'हाँ—मैं तुम्हारा स्वामी हूँ।'

'तुम मेरे सेवक हो !'

'हाँ—मैं तुम्हारा सेवक हूँ।'

'तुम मेरे पिता !'

'हाँ—मैं तुम्हारा पिता।'

'तुम मेरे पुत्र !'

'अच्छा, आप मेरे बाप।'

'तुम मेरे भाई !'

'हाँ दादा ! मैं तुम्हारा भाई।'

नन्दलालको कहाँ अस्वीकार करना आता है। आपका सिर स्वीकृतिमें झुकता है तो उसका दुगुना झुकता है। स्मरण रखिये कि आप ही उसे अस्वीकार करना सिखला सकते हैं। कहीं आपका हृदय कहने लगा—'श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं !'

निश्चय वह अपना सिर हिला देगा—'मैं ईश्वर नहीं।'

'कोई ईश्वर नहीं ?'

'हाँ, कोई ईश्वर नहीं।'

'ईश्वर है—पर मुझसे रुष्ट है।'

'तुमसे रुष्ट है ?'

'मुझपर कृपा नहीं करता।'

'हाँ, नहीं करता।'

इसलिये इस भोले बच्चेको अस्वीकृति मत सिखलाइये। महाराज दशरथ, माता कौसल्याने इसे पुत्र बनाया। पुत्र

तो बनाया व्रजके गोपों-गोपियोंने। पता नहीं कितनोंने इसे स्वामी बनाया और कितनोंने सेवक। कितनोंने सखा बनाया और इस सुकुमारकी पीठपर चढ्ढी कसी। इसको स्वयं अस्वीकार करना नहीं आता। आप अस्वीकृतिमें सिर हिलाओगे तो इसका सिर अस्वीकृतिमें हिलेगा।

प्रह्लादने कहा—'पत्थरके खम्भेमें भगवान् हैं।'

पत्थरके खम्भेसे यह नृसिंह बनकर निकल पड़ा।

हिरण्यकशिपुने कहा—'यह मायावी हरि मुझे मारनेको प्रकट हुआ।'

नृसिंहने उसका पेट फाड़ दिया। वे त्रिलोक-भयंकर-भगवान् नृसिंह जिनके समीप जानेका साहस ब्रह्माजीमें तो क्या होता, लक्ष्मीको भी नहीं हुआ। प्रह्लाद निर्भय चले गये और बोले—'मेरे स्वामी!'

नृसिंहने उठाकर गोदमें बैठा लिया और जीभसे चाटने लगे—'मेरे बच्चे।'

'यह मैया यशोदाका नटखट रूप बदलना बहुत जानता है; किंतु स्वभावका क्या करे। कोई अपना स्वभाव बदल पाया है या यही बदल लेगा? यह सिंह बने या सूअर, मछली बने या कछुआ; वामन बने या विराट्, ब्राह्मण बने या क्षत्रिय—स्वभाव इसका यही कि आप इसे जो कहो, आपके लिये यह वही है। आपमें दमखम है तो आप कह सकते हैं—

'कन्हाई! तू मेरा है।'

'हाँ—मैं तेरा हूँ।' मोहनका वचन पक्का है।

'तुझे मैं जैसा कहूँगा—वैसा तू करेगा।'

'अच्छा, मैं वैसा ही करूँगा।'

'मैं कहूँ बैठ तो बैठ और कहूँ उठ तो उठ।'

'जो आज्ञा!' कोई आपत्ति नहीं, कोई अप्रसन्नता नहीं, कोई खेद नहीं। श्यामसुन्दर तो सदा प्रस्तुत है। आप कहते हैं—'भगवद्दर्शन नहीं होता।'

आपने कभी दृढ़तासे कहा—'श्याम! तू मेरा है। चल सामने आ!'

लेकिन भैया! क्या अच्छा लगेगा इस परम सुन्दर, परम सुकुमार भोले नन्हे व्रजेन्द्रनन्दनको इस प्रकार दौड़ाना? इस प्रकार अपनी इच्छाके अनुसार विवश करना? क्या सुख मिलेगा आपको इसे श्रान्त करके? इसे व्यस्त करके?

यह आनन्दकन्द जो हँसता-खेलता, कूदता-फुदकता अपनी क्रीड़ामें लगा ही अच्छा लगता है। इसे देखने इसे स्मरण करनेमें—इसे अपना बनाकर स्मरण करनेमें, इसको उत्फुल्ल करनेमें जो असीम अचिन्त्य सुख है—किसी इच्छाकी पूर्ति किस तुलनामें है उसके? कहीं अमृत-महासिन्धुकी तुलना सड़े गड्ढेके जलकी बूँदसे की जा सकती है?

इसे अपना बनाना—यह क्या कठिन है। जब गोप, गायें, वनके कोल-किरात इसे अपना बना लेते हैं तो आप क्यों नहीं बना सकते? इसे कहाँ बड़ा पाण्डित्य, भारी तपस्या या योग चाहिये? यह स्वयं कहाँ योगी, तपस्वी या विद्वान् है। नन्हा-सा गोपशिशु और वह भी भोला इतना कि अस्वीकार करना इसे आता नहीं। आप दृढ़तासे कहो तो—

'कनूँ! मैं तेरा और तू आजसे मेरा!'

कन्हाई अस्वीकार कर नहीं सकता और यह बात कोई मैं अपनी ओरसे गढ़कर—बनाकर नहीं कह रहा हूँ। इसकी साक्षी तो वेद-पुराण-शास्त्र सब हैं। सब संत-महापुरुष इस बातको जानते-मानते हैं। स्वयं श्यामसुन्दरने कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें अर्जुनके रथपर बैठकर इस अपने स्वभावकी घोषणा की है। आप गीता उठाकर देख लीजिये, इसी नन्दलालने कहा है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

अनन्य भावुक जनाबाईकी उपासना

(लेखक—श्रीरामनिवासजी शर्मा 'मयंक')

जनाबाई भक्तशिरोमणि नामदेवजीके घरमें परिचारिका थी। घरमें झाड़ू लगाना, बरतन माँजना, कपड़े धोना, चक्की पीसना, जल भरना आदि उसके काम थे। नामदेवजीके निवासपर नित्य नामकीर्तन होता रहता था। भक्तिके अगाध सागरमें जैसे नामदेवजी सदा निमग्न रहते थे, वैसे ही शनैः-शनैः जनाबाई भी भगवद्भावमें तन्मय रहने लगी।

एक बार एकादशीके दिन नामदेवजीके यहाँ भक्त-मण्डली एकत्र हुई। रात्रिभर कीर्तन होता रहा। जनाबाई-ने शामतक बड़ी कठिनाईसे घरका कार्य पूर्ण किया; बेचारीने एकादशीके कारण भोजन भी नहीं किया था। उसके रोम-रोममें कीर्तनकी सौरभ संचरित हो रही थी। उसकी आँखोंमें भक्तोंका नाचना, गाना, मृदङ्ग-करताल बजाना आदिका वह दृश्य घूम रहा था। जना रात्रिभर घरके एक कोनेमें बैठी भगवान्‌में तन्मयतासे आँसू बहा रही थी।

जब कीर्तन समाप्त हुआ, तभी भगवत्-स्नेह-सागरमें निमग्न जना लौटी। पथमें चलते समय भी जनाकी वही स्थिति थी। उसके पैर कभी इधर पड़ते, कभी उधर। हाथोंकी चुटकियाँ बज रही थीं और होठ फड़क रहे थे। रोम-रोम प्रफुल्लित था, प्रेमाश्रु बह रहे थे। घर आते ही वह बेसुध-सी लेट गयी। थके हुए शरीरको निद्राने अपनी चादरमें समेट लिया।

जनाकी आँख जब खुली, तबतक दिन चढ़ चुका था। वह हड़बड़ा गयी। शीघ्रतापूर्वक नित्यकर्मसे निवृत्त होकर वह नामदेवजीके निवासस्थानकी ओर चल पड़ी। झाड़ू-बर्तन आदिसे निवृत्त होकर वह कपड़े धोनेके लिये चन्द्रभागा नदीके किनारे जा पहुँची। जल्दी-जल्दी काम करनेसे उसके हाथ-पैर फूले जा रहे थे। दिन-भरके कामोंका ऐसा क्रम बँधा था कि एकके बिगड़नेसे सारे ही काम बिगड़ जानेकी सम्भावना थी। जनाको कपड़े धोते-धोते ही याद आया कि सत्संगवाले कमरेको सुचारुरूपसे सुव्यवस्थित करना है। जना बेचारी दुविधामें पड़ गयी। क्या करे? कपड़े भी अधूरे नहीं छोड़ सकती और वह कार्य भी अति आवश्यक है। उसका हृदय हड़बड़ाहटसे धड़कने लगा। तभी एक विलक्षण घटना हुई। सहसा एक वृद्धा उसके निकट आ पहुँची और मुसकराती हुई बोली—'जाओ, तुम नामदेवजीका काम ठीक कर आओ, इन कपड़ोंको मैं धो डालूँगी।'

जना आश्चर्यसे बोली—'तुम? नहीं माँ! बस, थोड़ी देर इनकी रखवाली भर कर लो। इन झुर्रियाँ पड़े शिथिल हाथोंको इतना कष्ट काहेको? मैं बड़ी आभारी रहूँगी माँ!' जना जब वापस लौटी तो उसके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। दूरसे उसने देखा, सारे कपड़े धुल चुके हैं— और सूख भी गये हैं। विस्मयका ठिकाना न रहा। चन्द्रभागाके सुदूर तटपर वह वृद्धा बढ़ी जा रही है। 'माँ! ठहरो तो सही!' जनाने वृद्धाको पुकारा। और उसका पीछा करनेके उद्देश्यसे वह दौड़ी, पर बेचारी ऊबड़-खाबड़ पथपर गिर पड़ी। वह उठी, उससे पहले ही वृद्धा अदृश्य हो चुकी थी। भगवान्‌के प्रेममें विह्वल हुई वह शीघ्र ही नामदेवजीके घर पहुँची और उनके चरणोंमें गिर पड़ी। यह अलौकिक घटना उसने बड़े सिसकते-रोते उन्हें सुनायी। यह सब सुनते-सुनते नामदेवजीकी आँखोंमें पानी भर आया। वे गद्गद वाणीमें बोले—'जना! तू धन्य है, तुझे भगवान्‌ने प्रसन्न होकर दर्शन दिये हैं। वे तेरी भक्तिके वशीभूत

हो गये हैं। इसीलिये बिना बुलाये तेरे काममें हाथ बँटाने लगे हैं।'

'नहीं! नहीं!! नामदेवजी! मैं बड़ी अभागिन हूँ। मेरे कारण मेरे भगवान्‌को बड़ा कष्ट हुआ है।—' और वह अपनेको कोसने लगी। रोने लगी।

इस घटनाके बाद तो जनाबाईकी ऐसी विचित्र दशा हो गयी—

कुंजन कुंजन फिरत राधिका सबद सुनत मुरली की—

बस, वह इसीमें खो गयी। कहते हैं, जना जब चक्की पीसते समय अभंग गाते-गाते प्रायः सुध-बुध खो बैठती थी, तब स्वयं भगवान् आकर उसके साथ चक्की पीसने बैठ जाते थे। इसीलिये तो कहा है—

तुम ही, देत सब सुगम गुसाईं।

जनाके विमल चरित्रको महाराष्ट्री अब भी गाते हैं— 'जनी संग दळिले।' अर्थात् वे करुणामय प्रभु जनाबाईके साथ चक्की पीसते थे। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९। २२)

'जो अनन्य भावसे मेरी उपासना करता है, उसके योगक्षेमका मैं स्वयं वहन करता हूँ।'

साधु स्वभाव

[लघुकथा]

(लेखक—श्रीमोतीलालजी सुराना)

शाम होते-होते बादल और काले हो गये। पहले तो आँधी आयी और फिर जोरकी बरसात होने लगी। सब ओर अँधेरा छा गया। पासका आदमी भी दिखायी न देता था। रात और बरसात, आखिर जाय तो कहाँ?

महात्माको एक दिया-सा टिमटिमाता दिखायी दिया। उसी दिशाकी ओर वे चल पड़े। एक टूटी-सी छोटी झोंपड़ी दिखायी दी—पास आनेपर। शायद किसी किसानकी होगी, 'बाबा-बाबा' आवाज लगायी महात्माने।

'कौन है?' भीतरसे आवाज आयी, बाबाकी खाँसी बंद होनेके बाद।

'मैं एक संन्यासी हूँ। रास्ता भटक गया हूँ। क्या रातभर आपकी झोंपड़ीमें सो सकता हूँ?' साधुने पूछा।

'पर यहाँ तो केवल एक आदमीके ही सोनेकी जगह है?' वृद्धने भीतरसे ही कहा। 'हाँ, दो व्यक्ति बैठे-बैठे विश्राम कर सकते हैं। दरवाजा खुला है। जागकर रात बिताना हो तो अंदर आ जाओ।'

महात्मा भीतर चले गये। देखा, सचमुच झोंपड़ी बहुत छोटी थी। दियेकी लौसे भी डर लगता था कि कहीं झोंपड़ी आग न पकड़ ले। बाहर बरसात और भी तेज हो गयी थी। बाबाके पास महात्मा भी जाकर बैठ गये। दियेकी रोशनीमें महात्माने देखा कि बाबाके चेहरेपर बड़ा संतोष था।

शायद पाँच मिनट भी नहीं हुए होंगे कि पुनः बाहरसे आवाज आयी—'भाई, क्या रातभरके लिये आश्रय मिल सकेगा? मैं एक राहगीर हूँ और रास्ता भूल गया हूँ।'

'जवाब दो' बाबाने महात्मासे कहा। महात्मा विचारमें पड़ गये 'क्या जवाब दूँ? स्थान तो है नहीं।'

महात्माने जब कुछ जवाब न दिया तो बाबा बोले—

'केवल दो आदमीके बैठनेकी जगह है झोंपड़ीमें और हम दो भीतर हैं। यदि रातभर खड़े रहनेका आसरा चाहते हो तो भीतर आ जाओ।' बाबाने उत्तर दिया। 'हम तीनों रातभर खड़े रहकर यह आपत्तिका समय धैर्यके साथ बिता देंगे।'

मुसाफिर भी दरवाजा धकेलकर भीतर चला गया!

अभयकी उपासना

[अभय बनिये और सबको अभय बनाइये]

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

सारा विश्व भयाक्रान्त है। समस्त जीव-जगत् भयसे थरथरा रहा है। किसीको तनिक भी चैन नहीं। कब कहाँसे क्या आफत आ जायगी—इस भय-मरणसे सभी भयभीत और चौकन्ने बने हुए हैं। ऋषियोंने जो समस्त जीव-जगत्में आहार, मैथुन, निद्रा, भय—ये चार सर्वसामान्य संज्ञा बतलायी है, इनमें भय भी एक है।

'आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।'

बाहरसे हम चाहे किसीको कितना ही निर्भय मान बैठें या वह भी अपनेको निर्भय घोषित करता हो; पर सूक्ष्मरूपसे देखनेपर सर्वथा निर्भय व्यक्ति हजारोंमें नहीं, लाखोंमें नहीं, करोड़ोंमें भी एक मिलना मुश्किल है। विरले वीतराग पुरुष ही इसके अपवाद होते हैं।

भय अनेक प्रकारके हैं। एकमें किसी एक प्रकारकी मात्रा अधिक है, तो दूसरेमें उससे भिन्न दूसरे प्रकारके भयकी अधिकता है। सारा जीवन ही जब भयसे व्याप्त है तो भय किस-किसका बताया जाय। उनकी संख्याकी गणना करना असम्भव हो जाता है। फिर भी स्थूलरूपसे समझानेके लिये तत्त्वज्ञ पुरुषोंने कुछ भेद बतला दिये हैं। जैनागम स्थानाङ्गमें सात भय-स्थान बतलाये हैं—(१) इहलोक-भय, (२) परलोक-भय, (३) आन-भय, (४) अकस्मात्-भय, (५) वेदना-भय, (६) मरण-भय और (७) अश्लील-भय।' समवयांगसूत्रमें भी ये सात भय-स्थान बताये हैं। पर उसमें पाँचवाँ आजीविका-भय बतलाया है। बौद्धोंके 'अङ्गुत्तनिकाय'-में जाति (जन्म), जरा, व्याधि, मरण, अग्नि, उदक, राज, चोर, आत्मानुवाद (अपने दुश्चरित्रका विचार), परानुवाद (दूसरेके द्वारा कुत्सित कहे जानेका भय), दण्ड, दुर्गति आदि भयके अनेक भेद बताये हैं। यों सारा जीवन विविध भयोंसे आक्रान्त है। प्रतिपल कोई-न-कोई भय मानस-पटलके अन्तरतममें लगा ही रहता है। समय मिलते ही वह प्रकट हो उठता है।

समस्त भयोंमें मरण-भय सबसे प्रधान माना गया है—'मरणं समं नित्यभयम्।' अन्य भयोंका निराकरण प्राणी कर सकता है। बचावके रास्ते निकल आते हैं। पर जन्मके साथ मरणका जो अनिवार्य सम्बन्ध है, जिसे किसी भी प्रकारसे टाला नहीं जा सकता; उसके लिये अधिक भय होना स्वाभाविक है। उच्चकोटिके साधकोंने यद्यपि मरणसे तो छुटकारा नहीं पाया, पर मरनेके भयसे उन्होंने आध्यात्मिक भावनाके द्वारा मुक्ति पा ली है; क्योंकि जो चीज निश्चित-रूपसे होनेवाली है, जिसे कोई भी शक्ति टाल नहीं सकती, उसे हटानेका प्रयत्न करना वृथा है। पर उससे होनेवाले प्रभावसे हम मुक्त हो सकते हैं। वही उन्होंने किया।

अहिंसा धर्मका विकास भी मुझे तो इस भयसे ही हुआ प्रतीत होता है; क्योंकि उसके विकास-रूपमें, यह कहा गया है कि 'सभी जीव जीना चाहते हैं—सुख चाहते हैं, मरण और दुःख कोई नहीं चाहता। जैसे प्राण तुम्हें प्रिय हैं, वैसे ही दूसरोंको भी प्रिय हैं। इसीलिये कभी भी कोई ऐसा व्यवहार न करो, जिससे दूसरोंका घात हो। अर्थात् सभी जीवोंको मरणका एवं दुःखका भय है। तुम उन्हें त्राण दो, शरण दो, अभय दो, यही अहिंसा है।' किसीके मरण एवं दुःखमें भागीदार बनना ही हिंसा है। महात्मा गांधीने बहुत मार्केकी बात कही है कि जो व्यक्ति जितना निर्भय या अभय है, वह उतना ही अहिंसक है, संशक्त है। जिसमें जितने अंशमें भय बना हुआ है, वह उतने अंशमें हिंसक है। निर्बल और भयाक्रान्त व्यक्तिकी अहिंसा वास्तवमें अहिंसा नहीं है; क्योंकि वह उसके हृदयका स्वाभाविक भाव नहीं, लाचारी है। वह तो परिस्थितियोंके कारण हिंसा नहीं कर पा रहा है। जब भी व्यक्तिसे उसे किसी प्रकारका भय उत्पन्न होगा, उसकी अहिंसा तत्काल हिंसामें परिणत हो जायगी। प्रत्यक्ष या बाह्यरूपसे चाहे वह घात न करे या दुःख न दे सके; पर हिंसाकी भावनाका उद्भव होना ही हिंसा है। दूसरेके प्रति दुर्भाव एवं उसका बुरा करनेकी भावना पैदा होते ही वह हिंसक हो गया। हिंसा दूसरेके विनाशपर ही आश्रित नहीं है, वह तो अपनी ही एक कमजोरी है, दुर्भावना है, क्रोध है,

द्वेष है और मलिनता है। इसलिये अध्यात्मगीतामें लिखा गया है—

आतम गुणने हणतो हिंसक भाव थाय।
आतम धर्मनोरक्षक भाव अहिंसा कहाय॥

भय किसे नहीं है? कहाँ नहीं है? पद-पदपर और पल-पलमें भय-ही-भय नजर आ रहा है। मालिकसे नौकरको भय है—'कहीं कुछ कह न बैठे, नौकरीसे छुड़ा न दे।' क्लर्कको अफसरका भय हर समय बना रहता है। वह शुभ और कृपादृष्टिकी ओर बड़ी आतुरतासे हर समय निहारता रहता है। 'उनके बिना मर्जीकी बात कहीं कह न बैठूँ; इस समय इनका रुख अच्छा नहीं; पता नहीं, कब गरज पड़ें, बरस पड़ें और बना-बनाया खेल बिगड़ जाय, भर्त्सना कर दें।' पुत्रको पिताका भय है, स्त्रीको पतिका भय है। बालक, युवा, वृद्ध, निर्धन, धनी, मूर्ख और पण्डित सभीको किसी-न-किसी बातका भय लगा ही रहता है। पशु-जगत्की ओर भी निहारिये। दीवालपर बैठा कौवा हर समय सशंक है। हर समय वह इधर-उधर, आगे-पीछे दृष्टि फैलाता रहता है। न मालूम कब कौन आकर उसे पकड़ ले एवं दबोच ले। चिड़िया, कबूतर आदि सभीका यही हाल है, किसी भी व्यक्तिके आनेकी आहट सुनी कि फुर्र उड़ गये। हर समय वे चौकन्ने रहते हैं कि न मालूम कब कौन व्यक्ति हमें पकड़ ले, दुःख दे या मार दे। गलीके कुत्तोंको देखिये—किसी अपरिचित व्यक्ति या पशुको देखकर वे भौं-भौं करने लगते हैं। आगत व्यक्ति यह समझता है कि मुझे ये काटनेको दौड़ रहे हैं, पर वास्तवमें बात कुछ और ही है। उनकी सब भौं-भौं और दौड़-भाग अपने प्राण-नाश या भावी विपत्तिके भयकी चिन्ताके कारण ही है। वे सोचते हैं कि अपरिचित नवागत न मालूम हमें क्या दुःख देंगे। किसीका भयावना रूप देखकर, उसके पास लाठी अथवा अन्य भयावह साधन देखकर वे अधिक जोरोंसे भौं-भौं करते हैं। यह इस बातका स्पष्ट सबूत है कि वे दूसरोंको काटनेके लिये नहीं, अपितु अपनी रक्षाके लिये ही नाच-कूद, उथल-पुथल मचा रहे हैं। उनकी दृष्टिकी ओर देखिये—हिंसा और आक्रोशकी भावना भयके कारण ही उत्पन्न हुई होगी। यदि वे किसीको काट बैठते हैं तो इसी आशंकासे कि आगत व्यक्ति उनका कुछ अनिष्ट न कर बैठे। नवप्रसूता कुतियोंको आप अधिक काटती हुई पाते हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि उसे अपने बच्चोंपर मोह है; भय है कि आगत व्यक्ति उन्हें उठाकर न ले जाय, जरा-सा पुचकारते ही उन्हें अभयका आश्वासन मिल जाता है, तब वे शान्त होकर आपके पास लोटने लगती हैं। आपके पाँव चूमने लगती हैं। सेवा करने लगती हैं। दूसरे नये कुत्ते आनेपर जो गलीके पुराने कुत्ते भौंकते हैं, वह भी इसी भयसे कि ये हमारे बाधक होंगे। जंगली घोड़े, भैंस, ऊँट सभी मनुष्यको देखते ही जो दौड़ पड़ते हैं या कभी-कभी आक्रमण भी कर बैठते हैं, यह अपने प्राणनाशको बचानेके लिये ही। यह भयकी आशंकाका ही चमत्कार है। जब उन्हें विश्वास हो जाता है कि ये हमारा अनिष्ट करनेवाले नहीं हैं, पालक-पोषक—रक्षक हैं तब उनके बर्तावमें कितना अन्तर हो जाता है। गौरसे देखिये, इसका कारण भयमुक्ति ही है। एक क्षण पहले खूँखार हिंसक लगनेवाला दूसरे ही क्षणमें जो प्रेमी और सहयोगी बन जाता है। इस परिवर्तनका कारण भयसहितता और भयरहितता ही है।

साधारण पशु, पक्षी और जीवोंकी बातको छोड़िये। बड़े क्रूर, विकराल, हिंसक मांस-भक्षी सिंह, बाघ, चीता आदि भी यद्यपि बड़े निर्भय माने जाते हैं; पर वास्तवमें वे भयाक्रान्त हैं। दूसरोंके लिये भयस्थान लगनेपर भी वे स्वयं भयभीत हैं। सिंह जंगलमें चलता है। थोड़ेसे चलनेके बाद ही वह इधर-उधर तथा पीछेकी ओर मुड़कर देखता है, जिसे 'सिंहावलोकन' कहते हैं। इसका कारण यही है कि उसे अपने प्राणोंका भय बना है। वह देखता है कि कहीं कोई पीछेसे इधर-उधरसे घात न कर बैठे। आग जलाते ही वह दूर भाग जाता है। यह क्यों? इसीलिये कि वह उससे भय खाता है। वह निर्बल प्राणियोंपर घात करता है। इसीलिये कि वह उनसे प्रतिहिंसाका भय नहीं अनुभव करता। इधर उसे मांस न खानेपर प्राण जानेका भय बना है। अतः अपनी रक्षाके लिये ही दूसरोंकी हिंसा करता है। सर्प, बिच्छू आदि विषैले जन्तुओंको ही लीजिये—वे अधिकांश दबनेपर ही विष उगलते हैं। वे दूसरोंसे भय करते हैं। बिच्छूको तनिक भी आहट मिली कि भागा। पकड़ो-पकड़ोकी आवाज मिली कि भग गया। सर्प भी सरपट दौड़ लगा देता है। अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये आकुल होकर वह भाग छूटता है। दूसरे व्यक्ति उसे सताते हैं या उनके द्वारा सताये जानेका भय होता है, तभी वे विष उगलते हैं। डंक लगाते हैं। इसीलिये तो योगसूत्रमें कहा गया है कि—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

अर्थात् सम्पूर्ण अहिंसक व्यक्तिके सांनिध्य एवं सम्पर्कमें आते ही हिंसक व्यक्ति, पशु आदि वैर-भाव त्याग देते हैं। योगी पुरुष सबके लिये अभयप्रद बन जाता है। उसके चेहरेपर अनन्त करुणा, दया, प्रेम प्रतिबिम्बित हो उठता है। उसके उस अभय-संदेशसे ही हिंसक प्राणी अपना वैरभाव त्याग देते हैं। बिल्ली और चूहा, मृग और सिंह, कुत्ता और बिल्ली—जिनमें जन्मजात वैर माना जाता है, वे भी परम अहिंसकके पास निर्भय होकर पास-पास बैठ जाते हैं। यह भय-मुक्ति या अभयका ही चमत्कार है।

अब भय-मुक्ति या अभय बननेके उपायके सम्बन्धमें भी दो बातें कह देना आवश्यक समझता हूँ। भयसे छुटकारा पानेके लिये यह बहुत ही आवश्यक है कि हम किसी भी दूसरे प्राणीके लिये भयोत्पादक न बनें। यदि हम किसी भी प्राणी-की हिंसा नहीं करते तो अवश्य ही हमारी हिंसा करनेवाले स्वयं ही कम हो जायँगे। हमारा व्यवहार सबके साथ मधुर और प्रेमभरा हो तो हम सहज ही सबकी सहानुभूति प्राप्त कर सकेंगे। आदरके भाजन हो सकेंगे। इसलिये हमारेमें जो भी ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष, घृणा, तथा लोभ, काम, अहंका भाव है—उसपर हम विजय पानेका निरन्तर प्रयत्न करें। विश्वके समस्त प्राणी हमारे-जैसे ही हैं। एक तरहसे वे हमारे ही आत्मरूप हैं। इसलिये हम किसीको भी किसी भी प्रकारका दुःख एवं कष्ट न दें। प्रेम और सेवाके द्वारा उनसे आत्मीयता-का सम्बन्ध जोड़ें। अभय बनिये। दूसरोंको अपनी ओरसे भय न होनेका विश्वास दिलाइये।

दूसरा उपाय है—हम सदा पापोंसे बचते रहें; क्योंकि दुष्कृत्योंका फल हमें दुःखरूपमें ही मिलनेवाला है और दुःखसे ही सब घबराते हैं, भागते हैं। इसलिये सुखी एवं निर्भय बननेका यही उपाय है कि जिन कार्योंसे दुःख एवं भय प्राप्त होते हैं, उन कार्योंसे हम अलग रहें और सत्कार्योंमें ही प्रवृत्त रहें।

तीसरा और सर्वश्रेष्ठ उपाय है—हम अपनेको देहरूप न मानकर आत्मा या परमात्माके रूपमें निर्मल, बुद्ध, शुद्ध, सिद्धि और अनन्त शक्तिसे सम्पन्न चैतन्य स्वरूप मानें। सभी भय हमारे शरीरसे ही सम्बन्धित हैं। आत्मा तो सदा निर्भय है। शरीर पौद्गलिक और क्षणभङ्गुर स्वभाववाला है। उसके मरनेसे हम नहीं मरते। ऐसी भावनासे मनुष्यमें निर्भयता बढ़ती है। सब जीवोंको अभय दान दें। सद्विचार, सत्कार्य करें और आत्मा अविनाशी है—यह मानकर सदा निर्भय रहें।

काका कालेलकर 'अभय'के सम्बन्धमें इस प्रकार लिखते हैं—

भी (भये)=डरना, चिन्तित होना।

'चित्तवैक्लव्यं भयम्। वैक्लव्यम् अस्थिरत्वम्।'

अनिष्टकी आशंकासे और उसका उपाय न सूझनेसे होनेवाली अस्वस्थताको 'भय' कहते हैं। जिसकी ओरसे भय पैदा होता है, उसे टालनेकी वृत्ति भयमें विशेष होती है। जहाँ भीति पैदा हुई, वहाँ प्रीति, आत्मीयता नष्ट हुई। उपनिषद्में कहा है—'द्वितीयाद् वै भयं भवति।' जहाँ जुदाई या भिन्नता है, वहाँ भयका कारण है ही। इसलिये सच्चा अभय 'अद्वैत' में ही है। दाहिना हाथ बायें हाथसे नहीं डरता है, इसलिये कि दोनों एक शरीरके होनेके कारण दोनोंमें अद्वैत है।

अभय दो प्रकारका होता है—(१) मैं किसीसे न डरूँ, (२) मुझसे कोई डर सके, ऐसा कारण मैं नहीं हूँ। अद्वैत-सिद्धिके द्वारा ही यह अभयता पैदा हो सकती है। जहाँ देहबुद्धि है, वहाँ इच्छा (राग), भय और क्रोध रहेंगे। इन तीनोंके चले जानेसे मनुष्य मुक्त होता है। उसीको 'विदेह-अवस्था' कहते हैं। भयकी बुनियादमें 'अहंता' और 'ममता' होती है। इसीको 'देहबुद्धि' कहते हैं। महात्मा गांधीने सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रहके बाद अभयको स्वतन्त्र व्रतके रूपमें स्थान दिया है। वे लिखते हैं कि गीताके १६ वें अध्यायमें दैवी-सम्पद्का वर्णन करते हुए सबसे पहला स्थान अभयको दिया गया है। अभयके बिना दूसरी सम्पत्तियाँ नहीं मिल सकतीं। अभयके बिना शक्तिकी खोज कैसे सम्भव है? अभयके बिना अहिंसाका पालन कैसे हो सकता है? 'हरिका मारग है शूरोंका, नहीं वहाँ कायरका काम'। 'कायर' मानो डरपोक—भयभीत और 'वीर'का अर्थ है—'भयमुक्त', पर ढाल-तलवार बाँधे नहीं। तलवार शूरताकी निशानी नहीं है, भीरुताका चिह्न है।

भय अर्थात् बाहरी सब भयोंसे मुक्ति। मौतका भय, धन-दौलत लुट जानेका भय, रोगका भय, शस्त्र-प्रहारका

भय, इज्जत-आबरूका भय, किसीके बुरा माननेका भय। इस प्रकार भयकी पीढ़ी जितनी बढ़ायें बढ़ सकती है। सत्यकी खोज करनेवालेका इन समस्त भयोंको तिलाञ्जलि देनेमें ही निस्तार है।

'अभय' व्रतका सर्वथा पालन लगभग अशक्य है। भय-मार्गसे मुक्ति तो जिसे आत्म-साक्षात्कार हुआ हो, वही पा सकता है। अभय मोहरहित अवस्थाकी पराकाष्ठा है। निश्चय करनेसे, सतत प्रयत्न करनेसे और आत्मापर श्रद्धा बढ़नेसे अभयकी मात्रा बढ़ सकती है। मैंने प्रारम्भमें ही कहा है कि हमें बाहरी भयोंसे मुक्ति प्राप्त करनी है। भीतर जो शत्रु मौजूद हैं, उनसे तो डरके ही चलना है। काम, क्रोधादिका भय वास्तविक भय है। उन्हें जीत लेनेसे बाह्य भयोंका उपद्रव अपने-आप मिट जाता है। भय मात्र देहके साथ है। देह-विषयक राग दूर हो जाय तो अभय सहज प्राप्त हो जाय। विचार करनेपर हमें मालूम होता है कि भय-मात्र हमारी कल्पना-सृष्टि है। धनसे, परिवारसे, शरीरसे, अपनापन हटा दें तो फिर भय कहाँ!'

श्रीकिशोरलाल मशरूवाला अपनी 'निर्भयता' नामक पुस्तिकामें लिखते हैं। इस डरको मिटानेके लिये अनुभव और अभ्यास—ये दो ही साधन हैं। 'भय' (सम्भवनीय खतरेका ज्ञान) और 'भयवृत्ति' (डरकी घबराहट)में भेद है। भयवृत्ति और संकटकी स्थितिके ज्ञानमें भेद है। भयकी कल्पना ही बड़ा भय-स्थान है। हजारों, लाखों व्यक्ति केवल कल्पित भयके कारण असमयमें ही मृत्युको प्राप्त होते हैं। भयका शरीरपर बहुत बड़ा असर पड़ता है। ऐसी अनेक घटनाएँ जाननेमें आयी हैं, जिनमें व्यक्ति भयभीत होकर कुछ-का-कुछ कर बैठते हैं। मस्तिष्कका संतुलन खो बैठते हैं। इसीलिये यह बहुत ही आवश्यक है कि निर्भयताको अपनाया और विकसित किया जाय। अभय स्थितप्रज्ञका एक विशेष गुण और लक्षण है। महापुरुष मरणान्त कष्ट और विपदाके आनेपर भी कभी भयभीत नहीं होते। वे स्वयं अभय होते हैं और दूसरोंको भी अभय बनाते हैं।

पाँच प्रकारके दानोंमें अभयदानको सर्वश्रेष्ठ कहा गया है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति जीना चाहता है, सुख चाहता है। अतः हम किसीको भी किसी प्रकारका नुकसान एवं पीड़ा न पहुँचावें। सबको आनन्दपूर्वक जीने दें। मेरी ओरसे किसीको भी किसी प्रकारका भय नहीं है, ऐसे अभयका उद्घोष करते रहना ही 'अभयदान' है। मरते हुए और कष्टमें पड़े हुए प्राणियोंको जीवनका आश्वासन एवं सहानुभूतिका सहयोग देना आवश्यक है।

प्रभु सदा साथ रहते हैं

हर स्थितिमें, हर जगह, हमेशा रहते हैं प्रभु मेरे साथ।
रहता मस्तकपर मेरे नित, उन मेरे प्रिय प्रभुका हाथ॥
सुखमय बीते हुए समयकी, कभी न आती मुझको याद।
वर्त्तमानके विषम समयमें पाकर प्रभुका आशीर्वाद॥
स्थितियाँ सदा बदलतीं, आते नये-नये जीवनमें मोड़।
किंतु मोद-पूरित रहता मन, क्योंकि न जाते प्रभु पल छोड़॥
मेरे परम सुहृद पावन प्रभु करते पलक न मेरा त्याग।
हर स्थितिमें बरसाते रहते मुझपर सदा सुधा-अनुराग॥
इससे, मैं पा रहा सुनिश्चित घोर पाप-तापोंसे त्राण।
कोई भी स्थिति रहे, हो रहा मेरा नित्य परम कल्याण॥

उन्नति और सेवाके सुअवसर बार-बार नहीं आते !

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

सोपानभूतं स्वर्गस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
तथोत्थानं समाधत्स्व भ्रंश्यसे न पुनर्यथा ॥

स्मरण रखिये, यह सुरदुर्लभ मानव-शरीर, जो बड़े पुण्योंसे प्राप्त होता है, स्वर्गप्राप्तिका सहज सोपान है । इसे शुभ कर्मोंमें ही लगाना चाहिये, ताकि मनुष्य अवनति, पथ-भ्रष्टता और नैतिक पतनकी ओर अग्रसर न हो सके ।

एक बारकी बात है ।

पाँच असमर्थ और अपंग लोग एक स्थानपर एकत्रित हुए । बेचारे अपनी-अपनी शारीरिक निर्बलतासे व्याकुल थे । दूसरोंको समुन्नत और प्रतिष्ठित पदोंपर प्रतिष्ठित देखते हुए वे पश्चात्तापभरे स्वरमें कहने लगे—

'हाय ! परमात्माने हमें किसी पूर्वजन्मके पापकी वजहसे यह सजा दी है । यों असमर्थ और अपंग बना दिया है ! वह मौका ही न दिया कि औरोंकी तरह हम भी अपनी जिंदगीमें कुछ बड़ा काम कर सकते । यह मानव-जीवन बार-बार नहीं मिलता । इस बार भी न जाने कैसे मिल गया, पर दुःख इस बातका है कि यह व्यर्थ ही नष्ट होता जा रहा है । हाय ! यदि भगवान्ने दूसरे आदमियोंकी तरह हमें सामर्थ्यवान् बनाया होता, तो हम भी कुछ परमार्थ करते । यों बेबसी और मजबूरीमें जीवन व्यर्थ ही नष्ट न करते ! उसका सद्व्यय करते ! सारी उम्र यों निरुद्देश्य न धक्के खाते ! हमारे साथ भगवान्का कैसा अन्याय हुआ है ?'

उन पाँचोंके उदास चेहरोंपर व्यथा और हार्दिक पछतावेकी धारियाँ थीं । सभी निरुद्देश्य जीवन बितानेकी मानसिक व्यथासे परेशान थे ।

उनके लिये जीवन काँटेदार झाड़-झंखाड़ोंसे भरा बियावान जंगल था । वे जिधर भी चलते थे, मानो व्यथा, कष्ट, पीड़ा और बेबसीकी कँटीली झाड़ियोंमें उलझते जाते थे ।

वे जिंदगीका कंटकमय रास्ता तय करते-करते जैसे थक गये थे । पर मनकी बात कह डालनेसे पीड़ाका भार हलका हो जाता है ।

अन्धेने व्यथाभारसे दबे हृदयपर हाथ धरकर कहा—

'मित्रो ! यदि कहीं मेरे भी आप सबकी तरह दो आँखें होतीं, तो मैं जहाँ कहीं खराबी, मुसीबत या कष्ट देखता, वहीं और सब काम छोड़कर पहले उसे सुधारनेमें लग जाता । इस शुष्क और दुर्गन्धिमय जगत्को सुखदायक फूलोंसे भरी महकती फुलवारी ही बनाकर छोड़ता । मैं सर्वत्र हर्ष और उल्लासकी रंगीनी बिखेर देता । मुझे बस, दो आँखोंकी जरूरत है ।'

सभीने उसके साथ सहानुभूति प्रदर्शित की ।

'कुछ मेरी भी तो सुनो'—लँगड़ा बीचहीमें बोल उठा ।

'कह भाई ! तू भी अपने मनका भार हलका कर ले । आज मनकी कुछ भी बात मत छिपी रखना ।'

लँगड़ेने अपने लुञ्ज-पुञ्ज निर्बल पाँवोंपर एक पश्चात्ताप-भरी निगाह डालकर ठंडी आह भरी ! फिर दर्दभरी आवाज़में वह बोला—

'उफ् ! मैं उस दुर्घटनाको याद करते-करते काँप उठता हूँ । बचपनमें ही ऐसा एक्सीडेंट हुआ कि मेरे पाँव सदा-सर्वदाके लिये बेकार हो गये । मेरे लिये तेज रफ्तारसे भागती यह सारी दुनिया ही जैसे लँगड़ी हो गयी । कैसे मजबूत थे मेरे पाँव ! हाय ! मेरे वे खूबसूरत मजबूत पैर आज कहीं मेरे पास होते, तो······ ।'

'कहो-कहो, कहते-कहते चुप क्यों हो गये । मनका भार हलका कर लो—'

'···तो मैं दौड़-दौड़कर इस कृतघ्न दुनियामें समाजकी भलाई और पीड़ित मानवताकी उन्नतिके अनेक काम कर डालता । दुःखसे सुख, अन्धकारसे प्रकाश, मृत्युसे अमरता, जडतासे चेतनाकी ओर प्रगति करता । आज मैं विवेकके नेत्रोंसे जिधर देखता हूँ, उधर ही प्रगति और उन्नतिका, निरन्तर आगे बढ़ानेका शाश्वत नियम काम कर रहा है । उन्नतिका संदेश प्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनमें मुखरित हो रहा है । नदियाँ अपने अल्प और सीमित स्वरूपसे अनन्त गम्भीर विशद सागरकी ओर दौड़ी जा रही हैं । मैं भी अल्पसे महत्की ओर अग्रसर होता ।'

'ठीक है । ठीक है ।' निर्बल बोला । 'मेरी भी तो सुनो ! मुझे भी कुछ कहना है ।'

'अच्छा, इसे भी मनकी बात कह लेने दो।' और वे उस शक्तिहीन दुर्बल व्यक्तिकी मनोवाञ्छाएँ सुनने लगे।

उस कमजोर आदमीने अपने अस्थिपिञ्जरवत् शरीरको लज्जापूर्वक निहारते हुए कहा—

'मेरे हाथ-पैर आज निर्बल हो गये हैं। मजबूर होकर मैं ताकतका कुछ भी काम नहीं कर पाता, पर जब मैं दुनियामें मजबूत लोगोंको शक्तिके मदमें निर्बलोंपर अत्याचार करते हुए देखता हूँ, तो मनमें शोषणके प्रति बड़ा क्रोध आता है। मैं अक्सर सोचा करता हूँ, क्या ये अन्यायी और अत्याचारी ताकतवर लोग दुनियाकी आँखोंमें इसी तरह धूल झोंकते रहेंगे? दोस्तो! सच कहता हूँ यदि कहीं मुझमें बल होता, तो इन शक्तिके घमंडियोंका, इन अत्याचारियोंका दमन करता और इनके अत्याचारका मजा चखा देता। मैं अनुभव करता हूँ जिसका शरीर, मन और आत्मा शक्तिशाली है, वही उन्नतिके रास्तेमें आये अवरोधोंसे टकरा सकता है। समाजविरोधी तत्त्वोंसे मोर्चा ले सकता है। हाय! आज मैं कमजोर हूँ। साहसहीन हूँ। छोटे-से-छोटे विरोधको भी सहन नहीं कर पाता। मेरी कायरता नहीं छूटती। शीघ्र ही मैदान छोड़कर भाग खड़े होनेकी इच्छा बलवती हो उठती है। मुझे शक्ति चाहिये।'

'बस-बस, बहुत कह चुके। आप सब अपनी बातें कहे जाते हैं। इस निर्धनकी भी तो कुछ सुन लीजिये।'

'हाँ, हाँ, इसकी भी सुननी चाहिये।'

'कह भाई! तू भी अपने मनकी निकाल ले।'

वह निर्धन व्यक्ति हमेशा अपनी गरीबीकी वजहसे परेशान और मन-ही-मन दुखी रहता था। हाथकी तंगीके कारण वह अपनी मामूली-सी जरूरतोंको भी पूरी करनेमें मजबूर रहता था। बेचारा दो वक्त पूरी रोटी भी नहीं जुटा पाता था। खाली जेब और मासूम निगाहोंको अपनी आर्थिक मजबूरीपर डालते हुए दर्दभरी आवाजमें वह बोला—

'काश! मैं धनी होता, तो संसारमें फैले दीन-दुखियोंके लिये सब कुछ लुटा देता। उन्हें आर्थिक दृष्टिसे कभी दूसरोंका गुलाम न बना रहने देता। रुपयेकी सहायतासे आत्मकल्याण और धार्मिक प्रयोजनोंकी पूर्ति करता। मुझे लक्ष्मीकी कृपा मिलती, तो परमात्माकी प्राप्तिकी सुविधा हो जाती। कम-से-कम मैं निर्धनता-जैसी आध्यात्मिक विकृतिसे बचा रहता।'

पाँचोंमें अब केवल मूर्ख ही चुप रह गया था। शेष सब अपने मनके गुब्बार निकाल चुके थे।

लेकिन वह भी चुप रहनेवाला आदमी नहीं था। वह अपनी बुद्धिहीनता और मूर्खतापर सदा समाज और मित्रोंमें लज्जित हुआ करता था। वह व्यक्ति, समाज या जीवनकी किसी भी समस्याको नहीं समझता था। मन-ही-मन उसकी बड़ी इच्छा रहती थी कि मैं भी पुस्तकें पढ़कर मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति करता, संसारमें मूर्खोंको बुद्धिमान् बनाता। वह ज्ञानके अभावमें नारकीय नैराश्य और अन्धकारमें छटपटाया करता था।

सर्द आहें फेंकते हुए भारी स्वरमें वह बोला 'काश! मैं भी विद्वान् होता, तो समाज और संसारमें सद्ज्ञानकी गङ्गा ही बहा देता। एकको भी अज्ञानी और अल्पज्ञ न छोड़ता। जीवनभर सदाचार, धर्म, नीति और ज्ञानके उपदेश देता फिरता।'

अपनी-अपनी कहकर थोड़ी देर सब एक दूसरेके मुँहकी ओर निहारते रहे। वे अपने मनकी छिपी हुई मनोवाञ्छाएँ प्रकट कर चुके थे। सोच रहे थे, 'अब पछतानेसे क्या लाभ? अब तो जैसे हैं, हैं ही। इन्हीं अभावोंमें जीवन बिताना होगा।'

सौभाग्यसे एक ऐसी बात हुई जो बहुत कम होती है। वह क्या थी?

वरुणदेव इन सब असमर्थ और अपंग लोगोंकी पश्चात्तापभरी उक्तियाँ सुन रहे थे। उन्हें उनपर दया हो आयी। देवता तो दयाके पुञ्ज हैं ही। दयार्द्र हो उन्होंने सोचा—

'क्यों न इन सबको दुनियामें अपना नाम करने, अपनी मनोवाञ्छाएँ पूर्ण करने, सेवा-परोपकार और भलाईके कार्य करनेका एक सुअवसर दिया जाय। ये अपने जीवनको परोपकारमय बनाना चाहते हैं, समाजको ऊँचा उठानेकी भली इच्छा रखते हैं। अपने विश्रृङ्खलित और अस्त-व्यस्त जीवनको नये सिरेसे क्रमबद्ध एवं सुसज्जित रूप देना चाहते हैं। कदाचित् एक नया अवसर पाकर ये अपने भटके हुए जीवनको सन्मार्गपर लगा सकेंगे।'

देवता सर्वशक्तिमान् और सामर्थ्यशाली होते ही हैं। उनके आशीर्वादसे भौतिक सुख फल भी सम्भव है। शुभ कार्योंमें उनकी मनोवृत्ति हमेशा ही चलती रहती है।

बस, वरुणदेवने दया करके उनके कथनकी सच्चाई परखनेके लिये उन पाँचोंको अपना-अपना जीवन सुधारनेका एक-एक मौका और दिया। उनके मनकी छिपी हुई इच्छाएँ पूर्ण कर दीं।

देखते-देखते उनके आशीर्वादसे वहाँ एक चमत्कार हुआ। क्षणभरमें इन पाँचों असमर्थ और अपंग लोगोंके मनका मनोरथ पूर्ण हो गया।

सर्वत्र एक नया परिवर्तन नजर आया। जीवन ही बदल गया।

अंधेने आँखोंपर हाथ फेरा और विस्मयसे बोला, 'अरे! देवताओंका यह क्या करिश्मा है? मेरे नेत्रोंमें नयी ज्योति आ गयी। अहह! अब मैं अपने नेत्रोंसे इस लुभावनी रंग-बिरंगी आकर्षक दुनियाको खूब देख सकूँगा। खूब! यह सब क्या है? संसार कितना खूबसूरत है। जिंदगीमें मज़ा आ गया।'

लँगड़ेने अपने पैरोंको देखा। वहाँ भी नया परिवर्तन था। सचमुच अब उसके पाँव पूर्ववत् स्वस्थ और तगड़े हो गये थे। उनमें कहीं भी कमी नहीं थी। उसने उत्साहपूर्वक जरा चलकर देखा। फिर मधुर आवाजमें ठहाका लगाकर बोला—'अहह! मैं तो अब चल सकता हूँ। अरे, चल ही नहीं, मैं तो भाग भी सकता हूँ। अब मैं एक ही जगह क्यों पड़ा-पड़ा सड़ूँगा। खूब इधर-से-उधर भागा-भागा फिरूँगा। मेरे पाँवोंमें पंख लग गये हैं।'

निर्बलकी कुछ न पूछिये।

उसमें कहांसे एकाएक ताकत आ गयी थी। उसके सूखे कमजोर हाथ, पैर, छाती नया यौवन पाकर शक्तिमान् हो गये थे। शरीरमें नया रक्त प्रवाहित हो उठा था। जवानों-जैसी कान्ति और स्फूर्ति आ गयी थी। रुधिरमें तापमान और हलचल मच गयी थी। उसका चित्त मयूरकी तरह नाच उठा। उसके मस्तिष्कमें आनन्द, उल्लास और उत्साहपूर्ण भावनाएँ उठने लगीं।

और उस गरीबका अजब हाल था। गरीबी समृद्धिमें बदल गयी थी।

निर्धनको ऐसा लगा कि उसके नाम लाखों रुपयोंकी लाटरी निकल आयी है। एकाएक उसे इतनी विपुल सम्पत्ति प्राप्त हो गयी है, जिसकी वह जीवनमें कभी कल्पनातक नहीं कर सकता था। मकान क्या, अब वह गगनचुम्बी अट्टालिकाओंमें सुखपूर्वक निवास कर सकता था। आलीशान जिंदगी, बढ़िया बँगला, नयी चमचमाती मोटर, कीमती नयी शैलीकी पोशाकें, बेशकीमती जेवर, जमीन और जायदाद सभीका मालिक था वह। अब उसे कुछ कमी न थी।

मूर्खको विद्या मिली। ज्ञानके नेत्र खुल गये।

विद्या क्या मिली, जैसे अज्ञानके अन्धकारमें एकाएक ज्ञानका प्रकाश ही फैल गया। उसे ऐसा लगा, जैसे पहलेसे ही उसमें जन्मजात प्रतिभा भरी हुई थी। उसने ऐसा अनुभव किया, मानो एक ही रात्रिमें उसने शास्त्र, दर्शन, उपनिषदोंमें समुचित प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। उसकी सब असंस्कारी, स्वार्थपरायण और संकीर्ण भावनाएँ आज एक बार तो न जाने कहाँ विलुप्त हो गयी थीं। अब वह विद्वान् बन गया था। उसे बुद्धिपर गर्व हो गया।

वाह! वाह! वरुणदेवका यह क्या चमत्कार था। क्षणभरमें आमूल परिवर्तन। पाँचों असमर्थ लोग अब पूर्ण समर्थ हो गये थे। पूरी जिंदगी ही बदल गयी थी।

वे अपने सौभाग्यपर फूले न समाये। अब उनके जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोणमें भी परिवर्तन आया। वे नये तरीकेसे जीवन जीने लगे। पर बहुत दिनोंसे दबी हुई उनकी प्रसुप्त आकांक्षाएँ और वासनाएँ एकाएक प्रबलरूपसे जाग उठीं।

उन सबका मानसिक कायापलट ही हो गया था।

हमारे यहाँ ठीक ही कहा है—'स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्। इदमदर्शमिति। (ऐतरेयोपनिषद् १। ३। १३)

'जीवने मनुष्यके रूपमें जन्म लेकर इस समस्त विश्वको चारों ओरसे देखा और कहा—'अहह! यह विपुल वैचित्र्यपूर्ण विश्व ही सर्वव्यापी ब्रह्म है। अहो! अत्यन्त प्रसन्नता और आश्चर्यकी बात है कि मैंने इस परब्रह्मको अपनी आँखोंसे देख लिया है।'

नया जीवन मिला। एक बार फिर नये सिरेसे जिंदगीको ढालनेका स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ।

उन पाँचोंने फिर अपने स्वभाव और रुचिके अनुकूल नये प्रकारका जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया।

अन्धा समाज और रंग-बिरंगे संसारकी मादक-मोहक सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ देखनेमें संलग्न हो गया। उसने पहले

बहुत-सी चीजोंको देखा ही न था। संयम और एकाग्रता वह जानता नहीं था। तरह-तरहके आकर्षक दृश्य, चित्र, मोहक चीजें, कृत्रिम सौन्दर्यकी सैकड़ों वस्तुएँ रह-रहकर उसे लुभाने लगीं। वह सब कुछ विस्मृतकर सारे दिन खूबसूरत चीजोंमें ही रमा रहता। उसके रसके लोभी नेत्र मनोरम दृश्योंमें दिन-रात उलझे रहते। नारीकी उन्मादक रूप-माधुरी उसे विमुग्ध किये रहती।

लँगड़ेको नये पाँव क्या मिल गये, मानो व्योम-विहारके पंख ही प्राप्त हो गये थे। वह एक क्षण भी एक जगह न बैठता। मनमाने ढंगसे घूमता-फिरता। जब देखो तभी सैर-सपाटा करता नजर आता। वह कहीं भी टिककर न बैठता था। कोई एक काम भी हाथमें लेकर पूरा न करता था। उसे घुमक्कड़ जीवन पसंद था। उसने अनुभव किया कि मानवकी विकास-यात्रा द्रुतगतिसे सर्वत्र चल रही है।

वह सोचता—जब सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रको चुपचाप बैठनेमें चैन नहीं मिला, वे सारे दिन चलते फिरते हैं, तो मैं भी क्यों न चलायमान रहूँ? निरन्तर चलते रहना, क्रियाशील बने रहना ही इस सृष्टिका अखण्ड नियम है। जहाँ रुके, वहीं मौत है, वहीं जडता है। चलना ही जीवन है, रुक जाना ही मृत्यु है।

बस, यही सोचता-विचारता लँगड़ा विश्व-भ्रमणके लिये निकल पड़ा। शेष जीवनमें खूब घूमता फिरा।

निर्धनको जीवनमें प्रथम बार इतनी विपुल धनसम्पदा मिली थी। बेचारेकी आधी जिंदगी गरीबीमें कुट-पिसकर नष्ट हो चुकी थी। उसके मनके अरमान, अतृप्त आकांक्षाएँ, प्रसुप्त वासनाएँ एकाएक उभड़ उठीं। अब वह बड़ी शानसे ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बिताने लगा। अधिकाधिक विलासिता, भाँति-भाँतिके ऐश और आराम ही उसके जीवनके लक्ष्य बन गये। खाओ, पिओ, मौज उड़ाओ—इस तरहका भोगमय जीवन ही उसके जीवनकी चरम परिणति थी।

निर्बलको हर किसी मजबूतने दबाया था। अनेक बार वह बिना कसूरके पिटा था। बिना बात अपनी शारीरिक कमजोरीके कारण लज्जित और अपमानित होना पड़ा था। उसे वह उन सबके प्रति वैरभाव लिये फिरता था, मानो वह उस मौकेकी ताकमें था जब वह सबसे अपने लाञ्छनका बदला निकाल सके। अब जैसे ही उसे ताकत मिली, उसने अपने ईर्ष्या, द्वेष और क्रोधको निकालना शुरू कर दिया। जिन-जिन लोगोंने उसे दबाया, मारा-पीटा, लज्जित या अपमानित किया था, अब उसने उन सबको अपनी शारीरिक शक्तिसे आतंकित करना प्रारम्भ कर दिया। अब कमजोर जनता उसके आतंकसे घबराने लगी।

मूर्खने विद्या क्या पायी, हर किसीपर अपनी विद्वत्ता और योग्यताकी शान जमाने लगा वह। वह अपनी बुद्धिके आगे किसीको भी समझदार न समझता था। वह सभा-सोसाइटियोंमें धड़ल्लेसे अपने मतको प्रकट करता, प्राचीन शास्त्र-ग्रन्थोंका विरोध करता, कहीं-कहीं अपने समर्थनमें उनके प्रमाण भी पेश करता, अपनी विद्या-बुद्धि-योग्यताकी डींग हाँकते कभी न थकता। उसे अपनी प्रतिभापर घमंड था। लोग उसकी प्रशंसा करते, योग्यताके कारण मान-प्रतिष्ठा करते; परिणाम यह हुआ कि लोकोपकारकी इच्छा छोड़कर वह मिथ्या गर्व और झूठे सम्मानमें फूल उठा। अपनी विद्या और बुद्धिचातुर्यसे उसने जमानेको उल्लू बनाना तथा सबका अपमान करना शुरू कर दिया।

नये अवसरका यह उपयोग पाँचोंके वायदोंके खिलाफ बिल्कुल बदला हुआ था। उन्होंने क्या सोचा था! क्या चाहा था! और अब वे क्या कर रहे थे। सब कुछ प्रतिज्ञाके विपरीत।

नये जीवनमें वे पाँचों असमर्थ और अपंग लोग केवल भौतिक सुख-भोगोंमें—मिथ्या मौज-मजोंमें अपनी जिंदगीका नाश कर रहे थे और मान रहे थे कि वे विलक्षण आनन्द लूट रहे हैं।

ऐसा कोई विरला ही होता है, जो होश सँभालते ही रास्ता चुन लेता है। नहीं तो, प्रायः होता यही है कि बहुत कुछ चल लेनेके बाद ही रास्ता ठीक करनेका होश आता है। विचारोंका यही स्थल वह चौराहा है, जहाँपरसे जिंदगीके अन्ततक चलनेवाली राह चुननी होती है।

इस चौराहेपर सभीको देर-सवेर एक दिन पहुँचना होता है और जरूरी हो जाता है कि एक उचित मार्ग पकड़ा जाय। रास्तेके उचित चुनावपर ही हमारी भावी सुख-सफलता निर्भर है। यही वह असमंजसकी घड़ी होती है, जब हम अपने मूल मन्तव्यके अनुसार प्रेरित होते हैं।

उन पाँचोंका जीवन मिथ्या आनन्द और भोगोंकी

मस्तीमें बीतने लगा। जीवन एक लंबे आनन्दका क्षण था। एक प्रसन्नतादायक अनुभव था। अब दिन-रात इन्द्रिय-सुख, वासनातृप्ति, शोषण और दर्प-पूर्तिमें ही वे डूबे रहते। उन्हें किसी दूसरेकी किंचित् भी परवा न थी। जब पेट भर गया और सांसारिक सुख मिलने लगे, तो उनकी वासनाकी अग्नि भड़की और जिंदगी कुकर्म और कुविचार-की ओर चलने लगी, साथ ही कामनाकी आग भी उत्तरोत्तर भड़कती गयी।

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते।

इसी प्रकार बहुत दिन बीत गये!

एक दिन वरुणदेवको एकाएक उन पाँचों असमर्थ अपंग लोगोंकी बात स्मरण हो आयी। उन्होंने अपनी यात्रा उधरसे ही रक्खी—'देखें, उन असमर्थोंकी प्रतिज्ञा निभी या नहीं?' वे यही सोचकर उधरसे गुजरे।

उसी शहरमें ठिठक गये और देखने लगे उन पाँचोंकी कारगुजारी!

'अरे, यह क्या? उन पाँचोंका जीवन तो बिल्कुल ही बदल गया है। ये हर प्रकारकी शक्ति-सामर्थ्य पाकर लोकोपकार न कर अन्य क्षुद्र सांसारिक विषयासक्त लोगोंकी तरह संकीर्ण भोगमयी दुनियादारीमें व्यस्त हैं। पुण्य, परोपकार, सेवा, अज्ञान-निवारणकी जगह वे सांसारिक मान-प्रतिष्ठा, पद-अधिकार, भोग-सम्पत्ति, धन, जमीन-जायदाद इकट्ठी करनेमें लगे हैं। ये तो पतित हो गये हैं!'

सुअवसरका ऐसा दुरुपयोग!

देखकर वरुणदेवकी त्योरियाँ चढ़ गयीं। वे उनकी वचनोंको न निभानेवाली नीचता, छल, मिथ्याचार और झूठ-कपटसे अत्यन्त खिन्न हुए।

बात भी ठीक थी। जिसे रोने-कलपने और गिगियानेसे जीवनको सदाचरणमें लगानेका एक नया, अवसर फिर दिया जाय, उसे बड़ी सावधानीसे उसका सदुपयोग करना चाहिये तथा विशेष सत्-प्रवृत्तिके द्वारा उसको और भी उज्ज्वल बनाना चाहिये। जो अज्ञान और अशिक्षाके अन्धकारमें डूबा पड़ा है, उचित-अनुचितमें विवेक नहीं कर पाता, उसे भी ऐसा करना चाहिये। फिर इन पाँचोंको तो ज्ञान हो गया था, इनका तो दृष्टिकोण ही नया बनने चला था, फिर ये क्यों प्रलोभनोंमें बह गये?

'इन पाँचोंको हमारे वरदानसे कोई लाभ नहीं हुआ। इन्होंने जीवनके सदुपयोगका दूसरा सुअवसर पाकर भी नहीं किया। पशुओंका जीवन ही बिताते रहे। ऐसी जिंदगीसे क्या फायदा।'

यह सोचकर वरुणदेवने खिन्न हो अपने दिये हुए वरदान वापस ले लिये।

अरे, यह क्या!

फिर वही पुराना असमर्थ जीवन। पुनः वही कारुणिक असमर्थता। दुबारा उसी अपंगताके शिकार। एकदम यह कैसा कायापलट!

पलक मारते ही पाँचों अपंग फिर पूर्ववत् जैसे-के-तैसे हो गये। अंधेकी आँखोंका प्रकाश गायब हो गया। लँगड़ेके पैर फिर जकड़ गये; वह चलने-फिरनेमें असमर्थ हो गया। धनी फिर पहलेकी तरह सर्वथा निर्धन बन गया; वह फिर पूर्ववत् फटेहाल था। बलवान्को अशक्तताने आ घेरा; उसकी सारी शक्ति गायब हो गयी। विद्वान्की सारी विद्या विलुप्त हो गयी; वह फिर नितान्त मूर्ख हो गया!

हाय! हाय!! यह सब आकस्मिक परिवर्तन क्यों हुआ? वे असमंजसमें पड़ गये। कुछ समझ न पाये।

धीरे-धीरे उनकी पूर्वस्मृति स्पष्ट हुई।

उनका प्रारम्भिक जीवन एक बार फिर स्मृतिपटलपर घूम गया। उफ्! हम जीवनका सदुपयोग न कर सके। वे अपने पुराने वायदोंको याद कर-करके पछताने लगे।

अपनी मूर्खतापर सिर धुन लिया उन्होंने। हमने पाये हुए सुअवसरको व्यर्थ ही प्रमादमें नष्ट कर दिया!

पर समयकी गति बड़ी तीव्र है। वह निकल चुका था। अवसर हाथसे निकल चुका था। अब पछतानेसे बनता भी क्या था?

समय चुकें पुनि का पछिताने।

गीताके विश्वव्यापी प्रचारकी आवश्यकता

(लेखक—श्रीओंकारमलजी सराफ)

आजके इस मौतिक युगमें आध्यात्मिक संस्थापनाओंका एक प्रकारसे अवमूल्यन ही नहीं, अपितु लोप हो रहा है। जिस अनुपातमें भौतिक प्रगति हो रही है, उसी अनुपातमें नैतिक मूल्य अधोगतिकी ओर अग्रसर हो रहा है। यह भयावह परिवर्तन किसी देश या समाजका न होकर सम्पूर्ण विश्वके स्तरपर हो रहा है। अर्द्धविकसित अथवा विकासशील एशिया-अफ्रिकाके देश इस रोगसे विशेष आक्रान्त हैं; क्योंकि सदियोंके विदेशी प्रभावने इन देशोंकी सांस्कृतिक मान्यताओंका विनाश किया है।

मौतिक प्रगतिको आजके युगमें त्यक्त नहीं किया जा सकता। औद्योगिक एवं विभिन्न वित्तीय-प्रगतिकी आवश्यकतासे कोई भी असहमत नहीं हो सकता। किंतु मौतिक प्रगतिसे अधिक, नहीं तो, उसके समकक्ष भी आध्यात्मिक प्रगतिकी आवश्यकता है। जीवन-यापन और शारीरिक भरण-पोषणके लिये आध्यात्मिक खाद्य भी आवश्यक है, अन्यथा आध्यात्मिक दृष्टिके विना समाजकी वही अवस्था होगी, जो एक अपरिमित बल-प्राप्त अपाहिजकी होती है।

भारत मर्यादाओंका देश है। इसकी सांस्कृतिक परम्पराएँ अत्यधिक समृद्ध रही हैं। जबतक इस चरित्रनिष्ठ राष्ट्रकी नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति अक्षुण्ण रही है, यह विश्वका मार्ग-दर्शन करता रहा है। आज सब कुछ प्रतिकूल और सब कुछ पराजित हो चुका है। यदि भारतको शक्तिशाली राष्ट्रके रूपमें प्रस्तुत करना है तो सर्वप्रथम इसके सांस्कृतिक पुनर्गठनकी व्यवस्था ही उपयुक्त होगी, अन्यथा कोई भी व्यवस्था उसी प्रकार अक्षम और निष्फल होगी जैसा कि हम आज पंचवार्षिक आयोजनोंमें देखते हैं। योजनाबद्ध विकासके साथ आध्यात्मिक विकासके लिये भी योजनाबद्ध प्रयास आवश्यक है। भारत दीन इसलिये है कि उसे आज अपनी उस शक्तिका पता नहीं, जो अविरलरूपसे उसके अन्तरमें प्रवाहित है और उपभोगके विना यह उर्जा स्वयमेव नष्ट हो रही है। 'सत्यमेव जयते'की पीठिकापर आधारित हमारा जीवन-दर्शन एक प्रकारसे पर-चिन्तन और परमार्ग-दर्शनके सामने भीख माँग रहा है। सबसे लज्जा और दीनताका कारण तो यह है कि हम खाद्यके लिये तो हाथ पसारते ही हैं, आचार-विचारके लिये भी विदेशोंके सामने नतमस्तक खड़े हैं, जब कि हमारे पास इतनी आध्यात्मिक पूँजी है कि हम सारे विश्वका पोषण आज भी कर सकते हैं।

आजके इस मौतिक प्रवाहकी गति विनाशकी ओर है। इस सरिताका सारा स्रोत विराट् मरुस्थलकी ओर दौड़ा जा रहा है, जहाँ वह सारे संसारको लेकर सूख जायगा। यदि इस सरिताको लोकोपकार और विश्व-कल्याणके महासमुद्रसे मिलाना है तो आध्यात्मिक कूलोंसे इसे नियन्त्रित करना होगा। सबसे आश्चर्यका विषय है कि हमारे राष्ट्र और समाजके नेता इस सत्यको जानते हुए भी मूक हैं।

भौतिकवादी प्रवाहका मूल मार्ग 'मार्क्स-दर्शन' है, जिसका आदेश है किसी वर्गविशिष्टका हिंसाके द्वारा विनाश, जिसे साम्यवादी दर्शनमें 'सामाजिक क्रान्ति' कहते हैं। भले ही हिंसापर आधारित क्रान्ति सत्ता बदल दे, किंतु उसमें स्थायित्व नहीं ला सकती; क्योंकि भयद्वारा आरोपित कोई भी व्यवस्था चिरस्थायी नहीं हुई है, न उसके संचालकोंमें परस्पर मैत्री और सहयोगकी भावना ही रही है। हमारे देशमें भी मार्क्ससे भी बहुत पहले साम्य-दर्शनकी व्यवस्था की गयी है और इसे ईश्वरवादपर आधारित किया गया है, जिसके प्राङ्गणमें सब किसीको मैत्री और समान विकासके लिये आमन्त्रित किया गया है। यहाँ भय और कानूनद्वारा समता लादी नहीं गयी है बल्कि यह मनुष्यकी स्वयंस्फूर्त भावना है। इस भावनासे क्रान्ति होती है—परंतु वह अहिंसक होती है। यह क्रान्ति समाज ही नहीं बदलती, इतिहास ही नहीं बदलती, बल्कि मनुष्यका हृदय बदल देती है, मनुष्यका चिन्तन बदल देती है और उसके सम्पूर्ण कार्यकलाप बदल देती है।

आजके इस संदर्भमें आधुनिक कहे जानेवाले समाजमें भारतीय संस्कृतिके सनातन संगीत 'गीता'का विश्वव्यापी प्रचार आवश्यक लगता है। आज जो भी प्रचार हो रहा है, वह किसी अंशमें संतोषप्रद तो है लेकिन यथेष्ट नहीं कहा जा सकता। हमारे साधु-संतोंने गाँव-गाँव घूमकर गीताका

प्रचार किया है। गीताप्रेसने सस्ते मूल्यमें सारे देशको धर्म-ग्रन्थ उपलब्ध कराये हैं, फिर भी प्रचारके आधुनिक साधनोंद्वारा हम अधिक-से-अधिक व्यापक रूपसे दिशाभ्रष्ट समाजके सामने गीताका निष्काम कर्मसंदेश पहुँचा सकते हैं। साथ ही हमारे धार्मिक नेताओंको चाहिये कि गीताको पारायणमात्रके स्तरसे उठाकर जीवन-दीपके रूपमें जनताके सामने रक्खें। यदि हमारे इस सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अवमूल्यनसे रक्षा हो सकती है तो वह गीता माताके द्वारा ही।

आधुनिक प्रचारके साधनोंमें आकाशवाणी, फिल्म और टेलीविजन प्रमुख हैं। इनमें फिल्म सर्वाधिक प्रभावकारी साधन है। आकाशवाणीद्वारा गीताके श्लोकोंका पारायण होता है, किंतु ऐसा लगता है जैसा इसके पीछे वह आस्था, श्रद्धा या वह अनुराग नहीं, जो किसी भी आध्यात्मिक प्रचारके लिये आवश्यक है। यह केवल कर्तव्य निभानेकी प्रक्रिया-सी लगती है। फिर भी आकाशवाणीको इसके लिये धन्यवाद देना चाहिये। फिल्मोंका उपयोग आजकल व्यावसायिक ही होता है। जहाँ व्यवसाय प्रधान होता है, वहाँ आर्थिक लाभका चिन्तन ही प्रमुख होता है। फिल्मी निर्माताओंने व्यवसायको मुख्य लक्ष्य बनाकर समाजका जितना अनिष्ट किया है, उसकी क्षतिपूर्ति यदि सम्भव है तो इस फिल्म-उद्योगके पवित्रीकरणसे ही। व्यवसाय एक साधन है—साध्य नहीं। यदि फिल्मसे सम्पूर्ण गीताके भावोंका शुद्धरूपसे प्रचार किया जाय तो यह व्यापक रूपसे सर्वसाधारणको प्रभावित कर सकता है और विश्वको अत्यधिक सहज रूपसे हमारी सांस्कृतिक विरासतका परिचय देकर लोक-कल्याणका पथ प्रशस्त कर सकता है।

गीताने अर्जुनसे लेकर आजतक लोगोंको कर्म-संदेश सुनाया है। विदेशी शासनपर श्येनकी भाँति झपटकर अपनी प्राणाहुति देनेवाले हमारे बलिदानी वीरोंने गीतासे ही देहकी नश्वरता और आत्माकी अमरताका संदेश पाया था। आधुनिक भारतके निर्माताओं तथा स्वतन्त्रता-संग्राममें गीता ही मार्गदर्शिका थी। लोकमान्य तिलककी पथ प्रदर्शिका परमज्योति गीता थी। श्रीअरविन्दको गीताने ही मार्गदर्शन कराया था, महात्मा गांधीने तो गीताको माता कहकर उसकी गोदमें शरण ली थी। हमारे देशमें जो भी महान् नेता हुए हैं, उनका मार्ग-दर्शन गीताने ही किया है।

यदि भारतसरकार हमारे धार्मिक नेताओं और चिन्तकोंसे मिलकर महात्मा गांधीकी जन्म-शताब्दिके अवसरपर गीताके आधुनिक ढंगसे प्रचारकी व्यवस्था करे तो गांधीजीको दी गयी श्रद्धाञ्जलियोंमें यह अञ्जलि सर्वश्रेष्ठ होगी। इसके पूर्व भी आकाशवाणी, टेलीविजनके साथ-साथ छोटे-छोटे वृत्त-चित्रोंद्वारा भी गीताके प्रचारकी चेष्टा की जानी चाहिये। साथ ही, मेरे विचारसे इसका संक्षिप्त कथा-सार भी प्रकाशित कर जन-साधारणके सामने रखना अत्यन्त आवश्यक है। इससे जनमतमें गीताके अनुरूप विचार-परिवर्तन होगा एवं आजकी विघटनकारी प्रवृत्तियोंके विरुद्ध जनतामें भावना उत्पन्न होगी।

गीतापर फिल्म-निर्माणकी दिशामें कार्य आरम्भ हो ही चुका है। सबसे खुशीकी बात है कि यह कार्य श्रीएस० एन० मंगल नामक एक नवयुवकने उठाया है। यदि युवकोंमें संस्कृतिके प्रति आस्था प्रबल होती है तो निश्चय ही हमारा सांस्कृतिक नवजागरण होगा और प्रभावशाली ढंगसे होगा।

प्रभु मेरे, मैं केवल प्रभुका !

प्रभु मेरे, मैं केवल प्रभुका नित्य निरन्तर यह सम्बन्ध।
टूट गये अब तो अग-जगके सारे ममताके चिर-बन्ध॥
रही न कुछ आसक्ति कहीं भी; नहीं कामना, भय, अभिमान।
नहीं कहीं कुछ लेना-देना; नहीं मोह, मद, मिथ्या ज्ञान॥
मिटे द्वन्द्व सब, रहे एक तुम मेरे अपने प्रभु स्वच्छन्द।
मुझे बना कर केवल अपना देते सदा अतुल आनन्द॥
बुझी जगत्की ज्वाला सारी, छायी शीतल शान्ति अपार।
बहने लगी अजस्र, अनवरत दिव्य मधुर रसकी शुचि धार॥

आत्मा और उसकी शक्तिको पहचानिये

(लेखक—श्रीसुरेशचन्द्रजी वेदालङ्कार, एम्० ए०, एल्० टी०)

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
(यजुर्वेद ४० । ३)

अर्थात् जो कोई आत्माका हनन करनेवाले (आत्माके विरुद्ध आचरण करनेवाले) मनुष्य हैं, वे मरकर अन्धकारसे आच्छादित हुए, प्रकाशरहित नामवाले जो लोक—योनियाँ हैं, उनको प्राप्त होते हैं।

इस मन्त्रमें मानव-जीवनको उच्च बनानेके लिये एक बात यह बतायी गयी है कि आत्माकी हत्या करना या आत्महत्या करना महापाप है और आत्महत्या करनेवाले व्यक्ति असूर्य—अन्धकाराच्छन्न लोकोंको प्राप्त करते हैं। कहा जाता है, आत्मा अमर है। आत्मा जब अमर है तब इसकी हत्या कैसे की जा सकती है? इत्यादि प्रश्न हमें समझ लेना चाहिये। आत्माका यही ज्ञान आत्मज्ञान कहाता है। ज्ञान दो प्रकारका होता है—भौतिकवादी ज्ञान और दूसरा अध्यात्मवादी ज्ञान। अध्यात्मवादी विचारकोंकी दृष्टिमें उन्नतिका अर्थ प्रकृतिकी नहीं, आत्माकी विजय पाना है। मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोहके सामने क्षण-क्षण अपनेको निर्बल पा रहा है। इन मनोवेगोंने उसे पागल बना रक्खा है। यही कारण है कि प्राचीन कालमें भौतिक विद्याकी अपेक्षा अध्यात्मविद्याको अधिक महत्त्व दिया जाता था। 'छान्दोग्य-उपनिषद्' (७ । १) में एक कथा आती है। नारद सनत्कुमार ऋषिके पास गये और कहने लगे—"भगवन्! मैंने दुनियाका सब कुछ पढ़ डाला। चारों वेद, विज्ञान, नक्षत्र-विद्या, क्षत्रविद्या—कुछ नहीं छोड़ा, परंतु मेरी आत्माको शान्ति नहीं मिली। मैं 'मन्त्रवित्' हो गया हूँ, 'आत्मवित्' नहीं हुआ। प्रकृतिका ज्ञान मन्त्रज्ञान है, अपना ज्ञान आत्मज्ञान है। भगवन्! मैंने सुना है 'तरति शोकमात्मवित्।' जो आत्मतत्त्वको जानता है वह 'आत्मवित्' हो जाता है, उसे शान्ति मिल जाती है, अतः मुझे आत्माका उपदेश दीजिये।"

'कठोपनिषद्'में नचिकेताकी कथाका उल्लेख है। यमने नचिकेतासे तीन वर माँगनेको कहा। नचिकेताने दो वर माँगनेके बाद यमसे कहा—'महोदय! आपसे बढ़कर आत्मतत्त्वका ज्ञाता दूसरा नहीं मिल सकता। अतः आप मुझे आत्मदर्शन दीजिये। आत्माका ज्ञान बताइये।' यम घबराये। आत्माका ज्ञान बतलाना साधारण बात तो नहीं। उसे ग्रहण करना तो और भी कठिन है। इसलिये यमने कहा—'तू हाथी, घोड़े, संसारके ऐश्वर्य, भोग-विलास, प्रकृतिपर शासन, जो कुछ चाहे माँग ले, आत्मज्ञान बड़ा कठिन है, इसे मत माँग।' नचिकेता आजकलका युवक नहीं था, उसने वैदिक संस्कृतिकी शिक्षा पायी थी। वह कहता है—'भौतिक वासनाएँ तो एक जन्म क्या, सैकड़ों जन्म लेते जायँ, तब भी नहीं मिटतीं; आत्मतत्त्वके दर्शन कर लेनेपर भौतिक जगत् स्वयं हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है। भगवन्! मुझे आत्माका उपदेश दीजिये।'

'बृहदारण्यक-उपनिषद्' (४ । ५ । ३) में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयीका संवाद आता है। याज्ञवल्क्यने जब वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करनेकी अभिलाषा की, तब उन्होंने अपनी पत्नी मैत्रेयीको बुलाकर कहा—'लो, तुम्हें कुछ सम्पत्ति देता चलूँ।' मैत्रेयी पूछने लगी—'यन्नु म इयं सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् स्यां न्वहं तेनामृता।' अगर सारी पृथ्वीके भोगके पदार्थ मुझे मिल जायँ तो मेरी आत्माको शान्ति मिल जायगी या नहीं? याज्ञवल्क्यने कहा—'नेति, नेति' 'यथैव उपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यात्। अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन।' 'संसारके प्राकृतिक साधनोंके मिलनेसे तुझे आत्मिक शान्ति प्राप्त नहीं होगी, हाँ, उपकरण अर्थात् साधन-सम्पन्न व्यक्तियोंका जीवन जितना सुखी हो सकता है, उतनी सुखी तू जरूर हो जायगी।' मैत्रेयी कहने लगी—'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।' (४ । ५ । ४) 'जिस वस्तुके प्राप्त करनेसे मेरी आत्माको चिरस्थायी शान्ति न मिले, उसके पीछे दौड़कर मैं क्या करूँगी, मुझे तो आत्मतत्त्वका ही उपदेश दीजिये।'

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि 'आत्मा' यह क्या है? तो इसके विषयमें महर्षि नारदकी सुनायी हुई कथा सुनिये। कथा इस प्रकार है—"एक था राजा, उसका नाम था 'पुरञ्जन'। उसका एक मित्र था 'अज्ञात' नामवाला। बहुत दिनोंसे वे दोनों साथ-साथ रहते थे। अचानक पुरञ्जनके हृदयमें अभिलाषा उत्पन्न हुई कि यदि कोई नगरी मिले तो चलकर वहाँ रहा जाय। उसे एक नगरी दिखायी दी।

उस नगरीके नौ द्वार थे। पुरञ्जन अंदर गया। नगरीकी सुन्दरता देखकर आकर्षित हुआ। उसने देखा कि उस नगरीमें एक सुन्दरी स्त्री है, उसके दस साथी हैं, पाँच फणोंवाला साँप उसके आस-पास घूम रहा है और यही उसका रक्षक भी है। पुरञ्जन उस सुन्दरीपर आसक्त हो गया। उस स्त्रीने भी उसको पास बुलाकर कहा—'मेरे यहाँ रहोगे ?' पुरञ्जनने कहा—'अवश्य।' उनके पुत्र, पौत्रियाँ, धन, धान्य सब कुछ हो गया। सौ वर्ष बीते। अब नगरीके दरवाजे सड़ने लगे, दीवारें गिरने लगीं, रोगोंका प्रवेश होने लगा। अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल हो गये। अन्तमें एक दिन दुखी होकर पुरञ्जन नगरीसे बाहर चला गया। कई स्थानोंपर घूमनेके बाद विदर्भ-राजाके घरमें अपूर्व कन्याके रूपमें उत्पन्न हुआ। बड़े होनेपर 'मलेध्वज' नामके राजाके साथ उसका विवाह हुआ। दोनोंने राज्य करना प्रारम्भ किया। एक दिन मलेध्वजने देखा कि उसके सिरमें दो श्वेत केश दिखायी देने लगे हैं। श्वेत केशोंको देखकर उसने कहा—'रानी! अब जरा आ गयी है, राज्य छोड़ देना चाहिये। एकान्तमें जाकर वानप्रस्थी बनकर रहना होगा।' राजा गया। रानी भी साथ गयी। वनमें रहते कुछ ही समय बीता था कि मलेध्वजका देहान्त हो गया। अपूर्व कन्या रोने लगी। चितामें आग लगा दी गयी। अपूर्व कन्या चितामें जलने जा रही थी कि एक आवाज आयी—'पुरञ्जन'। रानीने आश्चर्यसे उधर देखा। आवाजने कहा—'इधर-उधर मत देखो मैं तुम्हें बुलाता हूँ।' रानीने कहा—'परंतु तुम तो पुरञ्जनका नाम लेते हो।' आवाजने कहा—'तुम ही तो पुरञ्जन हो, उस नगरीमें चले गये थे। अब इस स्त्रीके शरीरमें आ गये हो।' पुरञ्जनको ध्यान आया, बोला—'हाँ, अब स्मरण आता है।' आवाजने कहा—'क्या तुम्हें अपना मित्र याद है जिसका कोई नाम नहीं था। मैं ही वह मित्र हूँ। सहस्रों-लाखों वर्षोंतक हम दोनों साथ-साथ रहे। कितना आनन्द था उस समय। कितने प्रसन्न थे तुम। आज तुम रो रहे हो, चिल्ला रहे हो। यह भौतिकवाद सुखका कारण नहीं। यह दुःखका कारण है। आओ! इस संसारसे बाहर आओ।''

इस कहानीमें यह पुरञ्जन ही आत्मा है। जिस नगरीमें आकर इसने निवास किया वह 'मनुष्यका शरीर' है। शास्त्रोंने भी इस शरीरको आठ चक्रोंवाली, नौ द्वारोंवाली देवताओंकी नगरी अयोध्या कहा है। इस नगरीमें रहनेवाली सुन्दरी स्त्री है—'बुद्धि'। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, इसके दस साथी हैं। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान—यह पाँच फणवाला साँप ही इसका रक्षक है। जब ये चले जाते हैं, तब यह नगरी, यह बुद्धि सब समाप्त हो जाते हैं। पुरञ्जन ही वह आत्मा है जो इस नगरीमें आकर निवास करता है और यह अज्ञातनामा मित्र परमात्मा है। यह पुरञ्जन कन्या नहीं, पुरञ्जन नहीं, स्त्री नहीं, पुरुष नहीं—यह जीवात्मा है। इसके मित्र अज्ञातनामा प्रभुने इसके ऐश्वर्य और सुखोंके लिये यह संसार बना रक्खा है। परंतु यह जीवात्मा अपने महत्त्व, अपने वास्तविक स्वरूप, अपनी वास्तविक शान्तिको भूलकर, अपने मित्रको भूलकर संसारमें चिपट जाता है। संसारमें सुख नहीं—प्रकृतिमें सुख नहीं। सुख तो, सुखके, आनन्दके निधान सुखस्वरूप भगवान्‌के पास है। उससे सम्बन्ध स्थापित करनेपर आदमी 'आत्मवित्' होता है और 'तरति शोकमात्मवित्।' यही आत्मवित् शोकको, दुःखोंको और कष्टोंको पारकर आनन्दमय बन जाता है।

उसका यह मित्र सदा उसके साथ रहता है। इसे देखनेके लिये सूक्ष्म आँखोंकी, हृदयकी आँखोंकी आवश्यकता है। कहा है किसीने—

> चतुर्दिक् तुम्हीं नाथ छाये हुए,
> मधुर रूप अपना बिछाये हुए हो।
> तुम्हीं व्रत विधाता नियन्ता जगत्‌के,
> स्वयं भी नियम सब निभाये हुए हो॥
> करें हम भजन पुण्य शुभ कर्म जितने,
> सभीमें प्रथम स्थान पाप हुए हो।
> तुम्हारी करें वन्दना देव! निशि-दिन,
> तुम्हीं इस हृदयमें समाये हुए हो॥

राजा जनकने आत्माके विषयमें 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में प्रश्न करते हुए कहा—

'कतम आत्मा इति' आत्मा कौन है? ऋषिने उत्तर दिया—

> योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।
> (बृहदारण्यक० ४।३।७)

'यह जो विज्ञानसे भरा हुआ, इन्द्रियोंसे ढका हुआ, हृदयके अंदर ज्योतिवाला विद्यमान है, वह आत्मा है।'

प्रश्न हो सकता है कि 'यदि वह है तो दीखता क्यों नहीं ?' उत्तर है कि 'दस इन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन—इन्होंने उसे आवृत कर रक्खा है। इनका आवरण हटनेपर वह दिखायी देगा।' यह आवरण हटता कैसे है ? वह मिलता कैसे है ? उपनिषद् के ऋषिने बताया है—

'हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तः।'
(श्वेताश्वतर ३ । १३)

यह हृदयसे, बुद्धिसे, मनसे प्रकाशित होता है। और उसका विस्तार करते हुए कहा गया है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥
(मुण्डक ३ । १ । ५)

'यह आत्मा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्यसे प्राप्त होता है। यह आत्मा ज्योतिष्मान् है, शुभ्र है और जिनके मानसिक और शारीरिक दोष दूर हो गये हैं, उन्हें ही प्राप्त होता है।' सत्यको अपनाना कठिन है। सत्यको समझना उतना कठिन नहीं, जितना उसे अपनाना और जीवनमें ढालना कठिन है। जब मनुष्य सत्यवादी, सत्यकर्मी और सत्यचिन्तक हो जायगा, उस समय उसमें तपस्याका प्रवेश हो जायगा। तपका अर्थ है, किसी वस्तुको प्राप्त करनेके लिये इतनी तीव्र इच्छा उत्पन्न होना कि उसके लिये मनुष्य प्रत्येक कष्ट, संकट और आपत्तिको सहन करनेके लिये तत्पर हो जाय। आत्माके अन्वेषणमें इन दुःखोंका सहना महँगा सौदा नहीं। अर्थात् यदि हम इसे इस प्रकार कहें कि आत्माकी प्राप्तिके उन सभी प्रकारके कष्टोंको हम सहनेके लिये तत्पर रहें, जो हमें सत्याहार, सत्य विचार, सत्य व्यवहार और सत्य आधारतक पहुँचा दें। इस प्रकार सत्यतक पहुँचनेपर मनुष्यको अपनी आत्माके दर्शन हो जायँगे। उस समय मनुष्य अपनी आत्मशक्तिका अनुभव करने लगेगा और उस समय संसारका कोई कष्ट उसे अपने मार्गसे विचलित न कर सकेगा। सत्यमार्गको अपनानेवाले व्यक्तिकी आत्मा बलवती हो जायगी और वह उस आवरणसे, जो इन्द्रियों और मनका उसपर पड़ा है, बाहर आकर चमकने लगेगी।

शरीरसे पृथक् इस आत्मज्योतिका अनुभव करनेके लिये हमें जब किसी वस्तुकी उत्कट इच्छा हो और हम उसकी ओर हाथ बढ़ाना ही चाहते हों तो हमें चाहिये कि हम अपनेको रोककर कहें 'मैं तुमसे अधिक शक्तिशाली हूँ, मैं जैसा चाहूँ तुम्हारे प्रति करूँगा, मैं तुम्हें यह इच्छा नहीं पूरी करने दूँगा।' उस समय हमें प्रतीत होगा कि यह 'आत्मा' इन्द्रियोंसे पृथक्, उनसे ऊँची तथा उनपर शासन करनेवाली एक महान् सत्ता है। यह सत्ता शरीर और इन्द्रियोंपर अधिकार रखनेवाले मनको भी नियन्त्रित कर लेती है। हमारा मन पढ़नेमें नहीं लगता है, उस समय हम बलपूर्वक मनका दमन और संयमन कर लेते हैं, यह संयमन करनेवाला आत्मा ही तो है। योगदर्शन हमें बताता है कि यदि मनको एकाग्र करनेका अभ्यास जारी रक्खा जाय तो मनुष्यको विचित्र अनुभव होने लगते हैं; उसके अंदर अपूर्व विचार उठते हैं और वे विचार अनायास ही अंदर आते हुए प्रतीत होते हैं। वहाँ तो यह भी लिखा है कि मनको अधिक देरतक समाहित करनेका अभ्यास होनेपर आत्माकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि वह चाहे तो शरीरके बन्धनसे अलग होकर अपने आपको शुद्ध रूपमें अनुभव करने लगती है। इस समय आत्मा शरीरको तुच्छ समझने लगती है और शारीरिक जीवनको बन्धन मानती है। आत्मा अत्यन्त शक्तिशाली है। अमर है। गीतामें तभी तो कहा गया है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

'इस जीवात्माको शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी भिगा नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकती।' मुझे नाम तो याद नहीं आ रहा है, परंतु एक आत्मज्ञानीसे जब किसी शासकने कहा 'यदि तुम मेरे अनुसार नहीं चलोगे तो तुम्हें प्राणदण्ड मिलेगा।' तब उसने मुसकराते हुए कहा, 'यदि तुम मुझे कहो कि मैं तुम्हें कैद कर दूँगा तो मैं कहूँगा, हाँ, तुम मेरे शरीरको कैद कर सकते हो, परंतु मुझे नहीं। यदि तुम कहो कि मैं तुम्हारा सिर काट दूँगा तो मैं कहूँगा कि मैंने तुम्हें कब कहा है कि सिर नहीं काटा जा सकता, परंतु मुझे तो साक्षात् यम भी अवतार लेकर नहीं काट सकता, तुम्हारी तो मजाल ही क्या है ?' यह है आत्माका सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्तिका फल।

आत्माके स्वरूपके जिन्होंने दर्शन किये हैं उनकी घटनाएँ हमारे समक्ष विद्यमान हैं। एक अंग्रेज साहित्यकार-

ने लिखा है, 'नक्षत्र लुप्त हो जायँगे, सूर्यका प्रकाश मन्द पड़ जायगा, परंतु मनुष्यकी आत्मा सदा तेजस्विनी रहेगी। उसतक कालका हाथ कभी न पहुँच सकेगा।' मनुमहाराजने लिखा है, 'हे पुरुष! तेरे हृदयमें अन्तर्यामी, सर्वनियामक आत्मदेवका वास है।' डा० कैरलने लिखा है—'मनुष्यकी सृष्टि पहाड़ों और समुद्रोंके मापदण्डसे हुई। अर्थात् जिस शक्तिकी वाहिकाएँ ये प्राकृतिक रचनाएँ हैं, वही शक्ति इस 'मिट्टीके पुतले'में है। परंतु यह शक्ति विशुद्ध शारीरिक नहीं। मनुष्यकी एक और दुनिया भी है और वह उसके अन्तःकरणकी दुनिया है। आत्मा, मन और बुद्धिकी यह दुनिया काल और देशके प्रतिबन्धोंसे मुक्त है। यदि इस आन्तरिक जगत्में मनुष्यकी आत्मा शुद्ध, पवित्रसंकल्प, दृढ़ और सुस्थिर तथा अभिलाषा प्रबल और अगाध हो तो वह बाह्य जगत्को भी अपने अधीन कर सकता है।'

सुकरातको सत्यके प्रचार और अन्यायके विरुद्ध कार्य करनेके लिये मृत्युकी सजा दी जा चुकी थी। उस समयकी प्रथाके अनुसार विषका प्याला जल्लादने उसके सामने ला रक्खा। नवयुवकोंकी भक्तमण्डली सामने बैठकर सिसक-सिसक रोने लगी। अभी थोड़ी देरमें ज्ञानका सूर्य अस्त हो जायगा। यूनानका सम्राट्—वास्तविक सम्राट् सुकरात अस्त हो जायगा। शिष्य रो रहे थे। सुकरातने शिष्योंको सम्बोधित कर कहा—'मूर्खो! क्या मैंने तुम्हें जीवनभर यही सिखाया कि मैं मरूँ और तुम रोओ। याद रक्खो—संसारकी कोई शक्ति मुझे नहीं मार सकती। शरीर मर जायगा। आत्मा अमर है। इसे न राजा मार सकता है, न आग जला सकती है। तुम उस आत्माको अपनेमें देखो और सत्यको समझो।' सुकरातने जहरका प्याला पी लिया। क्या सुकरात मरा? नहीं, वह अमर है!

स्वामी दयानन्दको विष दिया जा चुका था। भयंकर विष शरीरको फोड़कर बाहर निकल रहा था। इतनी भयंकर वेदना थी कि तत्कालीन सिविल सर्जनने लिखा है कि इतनी भयंकर पीड़ाकी कल्पना भी असम्भव है। परंतु आत्मविजयी स्वामीके चेहरेपर मुसकराहट और मुखमें 'ॐ' 'ॐ'का नाद गूँज रहा था। 'ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो, ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो' यह कहते हुए जब वे अपने प्राणोंको छोड़नेकी तैयारी कर रहे थे, उस समय अपराधी उनके समक्ष आया—उसने क्षमा माँगी। स्वामी दयानन्दने उसे क्षमा ही नहीं किया, यह कहते हुए कि 'मैं संसारको बन्धनमें डालने नहीं, मुक्त करने आया हूँ'—उसे धन देकर भाग जानेका मार्ग बताया। 'ॐ' 'ॐ' 'ॐ' और फिर 'शम्' सब कुछ शान्त। आत्माकी शक्तिकी यह प्रबलता क्या अनुकरणीय नहीं? ऐसे-ऐसे असंख्य उदाहरण हैं।

इस प्रकार आत्माकी शक्तिको पहचानिये। आत्मज्ञ बनिये। जो आत्माकी शक्ति न पहचानकर आत्माका हनन करेगा, उसकी दुर्दशा होगी।

मृत्युसे पहले-पहले निःश्रेयसके लिये प्रयत्न करे

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

(श्रीमद्भा० ११ । ९ । २९)

अनेक जन्मोंके उपरान्त इस परम पुरुषार्थके साधनरूप नर-देहको, जो अनित्य होनेपर भी परम दुर्लभ है, पाकर धीर पुरुषको उचित है कि जबतक वह पुनः मृत्युके चंगुलमें न फँसे, तबतक शीघ्र ही अपने निःश्रेयस-(मोक्ष) प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर ले; क्योंकि विषय तो सभी योनियोंमें प्राप्त होते हैं [इनके संग्रह करनेमें इस अमूल्य अवसरको न खोवे। मनुष्य-जन्मकी सफलता तो निःश्रेयसकी प्राप्तिमें ही है]

धर्मनिरपेक्षता* एवं धर्मशिक्षा तथा उपासना-पद्धतियाँ

(लेखक—डॉ० श्रीसुरेशव्रतरायजी एम्० ए०, डी० फिल्०, एल-एल० बी०)

कीचड़ स्वयं तो गंदा होता ही है, किसी कामका नहीं, यदि कोई भूलसे भी कीचड़के सम्पर्कमें आता है तो वह भी उस कीचड़में सनकर भद्दा एवं घिनौना दृष्टिगोचर होने लगता है। ठीक यही स्थिति आज राजनीतिकी है जो पदलिप्सा, छल, पाखण्ड, दम्भ, षड्यन्त्र, अपराध-वादिताकी पर्याय हो गयी है। जो राष्ट्रसेवा, समाजसेवाके नामपर जन-साधारणकी आँखमें जितनी धूल झोंक सके, अधिकतम शोषण करके भी श्रद्धाका पात्र बना रह सके, वही सफल राजनीतिज्ञ माना जाता है, व्यावहारिक जीवनमें ऐसा ही है। ईमानदारी और राजनीतिमें मूषक-मार्जार-विरोध है। जो इस कीचड़से अपनेको अछूता रखनेमें सफल हुआ, (यद्यपि ऐसे विरले ही होंगे) वह सच्चे अर्थोंमें 'पंकज' बन गया, जो सभी उद्यानोंका केन्द्र-बिन्दु रहता है। राजनीतिक लोगोंका जिस क्षेत्रमें हस्तक्षेप हुआ, वहाँ कालिमा छा जाती है। वास्तविकतापर आवरण पड़ जाता है।

आज धर्म और संस्कृति भी इस आक्रमणके शिकार हैं। इनकी दलगत अथवा व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धिके लिये राजनीतिक व्याख्या की जा रही है, उसके स्वरूपको तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है, जो निःसंदेह चिन्तनीय है। यह ठीक है कि देश धर्म और संस्कृतिसे अलग नहीं है। परंतु प्रत्येक समस्याको राजनीतिक रूप देना समस्याके प्रति अन्याय है। धर्मका विशिष्ट पक्ष अथवा रूप आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति अथवा दलविशेषको सत्तारूढ़ रहनेमें सहायक हो; क्योंकि धर्मकी दृष्टि कुर्सी, गद्दीपर केन्द्रित राजनीतिकी अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है और प्राणिमात्र-के कल्याणकी भावनाके अभिभूत है। इधर 'धर्मनिरपेक्षता' के नामपर धर्मकी विभिन्न प्रकारसे व्याख्या की जा रही है।

'धर्मनिरपेक्षता' एक उच्च एवं सराहनीय आदर्श है, सहिष्णुता एवं मानवप्रेम इसके दो जाज्वल्यमान पक्ष हैं। धर्मविशेषको प्रश्रय देने अथवा न देने, धर्मके आधारपर विशेष सुविधाएँ देने-न-देनेकी अपेक्षा जन-साधारणके कल्याणकी कामनाको लेकर चलनेका संकल्प निःसंदेह अनुकरणीय है। परंतु 'राजनीति' दुमुँहे साँपकी भाँति है। कथनी और करनीमें एकात्मकता हो गयी तो फिर राजनीति कहाँ रह गयी? हमारे दैनिक जीवनमें धर्मनिरपेक्षताका रूप एकदम भिन्न है, इधर दो-एक बानगी हमारे सामने आयी है, जिससे इस भारी भरकम शब्दकी कलई खुलती जा रही है। साप्ताहिक पत्रिका 'लिंक' दिनाङ्क १८ सितम्बर १९६६ के अङ्कमें पृष्ठ १५ पर

[* निष्पक्षता एवं सहिष्णुतापर आधारित भारी भरकम शब्द 'धर्मनिरपेक्षता'को लेकर व्यावहारिक जीवनमें राजनीतिक स्वार्थसिद्धि-हेतु जिस प्रकार व्याख्या की जा रही है, वह चिन्तनीय है। इस व्याख्याका शिकार भारतका बहुसंख्यक वर्ग है। केवल उसीसे 'धर्मनिरपेक्षता' की अपेक्षा की जाती है। तुष्टीकरणके लिये कहीं विश्वविद्यालयसे 'हिंदू' शब्द निकाल देनेकी बात सोची जाती है, कहीं वर्गविशेषके सामाजिक कानूनके नियम बनाये जाते हैं तो कहीं पाठ्यक्रम बदलनेकी बात सोची जाती है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि एक दिन हिंदू, हिंदी और हिंदू-धर्म, हिंदू-संस्कृति अपने देशमें ही अपरिचित तो नहीं हो जायँगे! न धर्मशास्त्रों, सिद्धान्तोंकी शिक्षाकी कोई व्यवस्था है। न इससे सम्बन्धित भ्रान्तियोंको दूर करनेका कोई प्रयत्न किया जा रहा है। 'मन' बदलनेकी बात कोई नहीं सोचता। शास्त्रोंके बारेमें बिना जाने, विभिन्न उपासना-पद्धतियोंके रहस्यको बिना ठीक-से समझे अथवा गलत ढंगसे समझकर मनमानी प्रचारकी छूट क्या धर्मनिरपेक्षताके नामपर दी जा सकती है? धर्मपर राजनीतिक ढंग और उद्देश्योंसे विचार बंद होना चाहिये। धर्मनिरपेक्ष व्यवस्थामें धर्मशिक्षा और भी आवश्यक है। इसे राजनीतिक प्रश्न नहीं मानना चाहिये। ठंडे मनसे विचार करना चाहिये। आधुनिकताके नशेमें हम अपने सांस्कृतिक वटवृक्षकी गहराईतक गयी जड़ोंको अनावश्यक घास-फूस समझकर काट रहे हैं। जड़ोंके कट जानेपर वह वृक्ष कितना ही प्राचीन एवं विशाल क्यों न हो, कबतक हमारी रक्षा कर सकेगा? क्या फिर वह हल्का थपेड़ा भी सह सकेगा? नैतिक मान्यताओं एवं धर्मसे विमुख चिन्तन हमें कहाँ ले जायगा?]

'धर्मनिरपेक्षता एवं पाठ्य पुस्तकें' शीर्षकसे निम्न आशयका समाचार प्रकाशित हुआ था।

"इधर कुछ समयसे विचार हो रहा है कि पाठ्य पुस्तकें धर्मनिरपेक्ष दृष्टिसे लिखी जायँ अथवा उनमें धार्मिकताका पुट रहे···। कुछ अभिभावकोंद्वारा आपत्ति की गयी कि इन पाठ्य पुस्तकोंमें सदाचार एवं नीतिशास्त्रके नामपर कतिपय धार्मिक सिद्धान्तोंका प्रचार किया जाता है। उदाहरणार्थ हाई स्कूलकी एक पुस्तकमें लिखा है, 'गोपाष्टमी-के दिन गौ-पूजन करना चाहिये। तुलसी, नदियों एवं गौकी, सम्यक् ज्ञान एवं समझके साथ की गयी पूजासे आन्तरिक शुद्धि होती है।' इसी प्रकार ८ वीं कक्षाकी एक पुस्तकमें कहीं कहा गया है—'गौ हम सबकी माँ है, उसकी सेवा करके हम अपनी शुद्धि तथा अपना कल्याण करते हैं।' सुप्रसिद्ध सरस्वती-वन्दना 'या कुन्देन्दुतुषारहारधवला······' पर भी आपत्ति की गयी है कि यह वर्गविशेषकी कल्पनाका प्रतिनिधित्व करती है। कुछ पुस्तकोंमें पौराणिक अथवा सम्प्रदाय-विशेषके ऐतिहासिक महापुरुषों तथा चमत्कारोंका उल्लेख किया गया है जिससे उनके प्रति श्रद्धा एवं आदरका भाव पल्लवित हो। राष्ट्रीय एकताकी दृष्टिसे इतिहासकी पुस्तकोंमें दी गयी अनेक घटनाओंको आपत्तिजनक बताया जा रहा है; क्योंकि वे राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकतामें बाधक होती हैं। जैसे मुहम्मद गोरीके सोमनाथपर आक्रमण एवं इसी प्रकारके अन्य आक्रमणोंका उल्लेख। इस सम्बन्धमें उत्तर-प्रदेश सरकारद्वारा १९६१ ई० में श्रीकृष्णदत्त पालीवाल-की अध्यक्षतामें एक कमेटी नियुक्त की गयी है और सम्भवतः कमेटीने इस सम्बन्धमें सिफारिश भी की हो।"

इस सम्बन्धमें क्या सिफारिशें की गयी हैं, समाचारमें इसका उल्लेख नहीं है। उपर्युक्त आपत्तियाँ उठानेवाले कौन हो सकते हैं, यह स्पष्ट है और इस प्रकारकी धृष्टतापूर्ण माँगें भारतमें ही की जाती हैं, यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं। धर्मनिरपेक्षताके नामपर तुष्टीकरण तथा वर्ग, सम्प्रदाय-विशेषको सही-गलत ढंगसे संतुष्ट करनेसे धर्मके वास्तविक स्वरूपको नहीं बदला जा सकता। इंगलैंड, अमेरिका, अरब आदि देशोंके पाठ्यक्रमोंमें उनके यहाँकी बाइबिल तथा अन्य पुस्तकोंपर आधारित पाठ दिये हैं। यद्यपि उन देशोंमें अन्य धर्मावलम्बियोंको अपनी आस्थाके अनुसार धर्मपालनकी वैसी ही स्वतन्त्रता है, जैसी शायद हमारे यहाँ है, परंतु कोई ऐसी माँग करनेका साहस नहीं कर सकता कि वहाँके सामान्य पाठ्यक्रमसे बाइबिल, कुरान अथवा कोई अंश निकाल दिया जाय; क्योंकि वर्गविशेषकी रुचिके अनुकूल नहीं है। हमारा दृष्टिकोण व्यापक हो। सभी धर्मों, महापुरुषोंके प्रति समान आदर भाव हो। कूप-मण्डूकता एवं झूठा दम्भ न हो। इसके लिये जहाँ हम समाजसुधारक महर्षि दयानन्दको पढ़ें, वहीं मार्टिन लूथरका भी अध्ययन करें। रमण महर्षि, विवेकानन्दके साथ सेन्ट पौल, ईसा, मुहम्मदकी शिक्षाओंका भी चिन्तन करें। शंकराचार्यके साथ कान्ट, ब्रैडलेकी भी व्याख्या करें। ये सारी बातें तो समझमें आती हैं; परंतु वर्गविशेषसे सम्बन्धित अंशोंको निकाल देनेके दुराग्रहमें संकीर्णता एवं कट्टरता अधिक है। और इस प्रकारकी माँगोंको किसी भी रूपमें प्रोत्साहित करनेमें तुष्टीकरणकी नीति अधिक है, जिससे वर्ग अथवा सम्प्रदायविशेषका यथासमय उपयोग किया जा सके और 'धर्मनिरपेक्षता' तो एक छलमात्र है। सारे धर्मावलम्बियोंको समान रूपसे स्वतन्त्रता देने तथा सबकी कल्याणकामना करनेवाले धर्मनिरपेक्ष राज्यमें सीमाविशेषमें समाज-सुधार अथवा सामाजिक क्रान्तिका प्रयास एक असंगति है तथा तुष्टीकरणका ही परिचायक है।

प्रत्येक देशकी अपनी वेशभूषा, भाषा, संस्कृति होती है, जो उस प्रदेशकी विशेषताओंको विश्वके सांस्कृतिक पुष्पोद्यानमें सुशोभित करती है। अरब, जापान, अमेरिका, रूस आदि प्रत्येक देश अपनी वेशभूषा तथा संस्कृतिका प्रदर्शन करते हैं। धर्म और भाषा संस्कृतिके दो अङ्ग हैं। आज न हमारी भाषा है और न अपने धर्म अथवा संस्कृतिका कोई ज्ञान, जिनकी हम आधुनिकता अथवा धर्म-निरपेक्षताके नामपर अवहेलना करते हैं। उपर्युक्त देशोंमें अन्यधर्मावलम्बी नहीं हों, ऐसी बात नहीं है; फिर भी उनकी संस्कृति बहुमतके धर्मका किसी-न-किसी रूपमें प्रतिनिधित्व करती है, फिर हम अपनी संस्कृतिको उस व्यक्ति-का हास्यास्पद रूप क्यों दें जो अपनी वेश-भूषा छोड़कर लोगोंके संतोषके लिये सिरपर तुर्की टोपी, कुर्ता, कुर्तेपर टाई, कमरमें भिक्षुओं अथवा सिक्खों-जैसा उत्तरीय बाँधे, फुलपैंट पहिने तथा पैरमें खड़ाऊँ पहिने चला जा रहा है। जब भारतमें आये विदेशी अथवा बाहर गये भारतीय छात्र-

छात्राओंसे विदेशी जिज्ञासावश यहाँकी धर्म एवं संस्कृति-के सम्बन्धमें प्रश्न पूछते हैं और ऊलजलूल उत्तर पाते हैं अथवा छात्र चुप रह जाते हैं तो उन्हें तो निराशा होती ही होगी, हमारा मस्तक लज्जासे झुक जाता है। कहीं-कहीं तो विदेशी प्रश्नकर्ता हमारे धर्म, संस्कृति और दर्शनके सम्बन्धमें उनसे कहीं अधिक जानते हैं। एक दूतावासकी चाय-पार्टीमें संयोगवश डॉ० कालिदास नामक विद्वान् भी सम्मिलित थे। वहाँ दो-एक भारतीय उच्चाधिकारियोंने 'अभिज्ञान शाकुन्तल'के रचयिताके रूपमें उनका परिचय कराया। विदेशी मेहमानने व्यङ्ग्य किया 'ओ···आपके यहाँके लोगोंकी आयु सचमें बड़ी लम्बी है।'

हमारे मस्तिष्कमें जाने क्यों—यह दासतापूर्ण विचार बैठ गया है कि विदेशोंकी समृद्धि प्राप्त करनेके लिये उनकी सारी बातोंकी नकल करना आवश्यक है; चाहे वे अच्छी हों या बुरी। एक परिचित महिलासे कुछ वर्षों बाद भेंट हुई। पहिले वह सितार सीखा करती थीं और वीणावादन सीखनेका प्रयास कर रही थीं, बादमें उनका विवाह एक बड़ी विदेशी फर्मके उच्चाधिकारीसे हो गया। तो उस दिन उनके कमरेमें सितार एक ओर पड़ा था। उसपर मनों गर्द जमी। मैंने अनायास पूछ लिया—'क्या बंगलेकी व्यवस्थासे समय नहीं मिलता ?' वे बोलीं 'नहीं तो, समय काटे नहीं कटता, इतनी फुरसत रहती है।' मैंने फिर प्रश्न किया—'तो फिर आपके प्रिय वाद्य सितारकी यह दुर्गति क्यों है ? क्या संगीतसे नाता तोड़ दिया ?' वे बोलीं—'नहीं, संगीतसे नाता टूट कैसे सकता है ? पर सितार-वीणा यह सब 'आउट डेटेड' दकियानूसी बाजे हैं, सभा-सोसाइटीमें इनका कोई मान नहीं है, इसलिये गिटार बजाती हूँ। उसकी 'ट्यून्स' और 'रिद्म'में एक अलग मजा है।' गिटार सीखना बुरा नहीं है, परंतु उसके पीछे अपने वाद्यों और उसके प्रतीक रूपमें संस्कृतिके प्रति जो उपेक्षा तथा हीनताकी भावना है वह न गौरवपूर्ण है, न हितकर और न शोभनीय। प्रश्न उठता है क्या धर्मनिरपेक्षताका यही रूप है···?' यदि नहीं तो फिर व्यक्तित्वके सर्वाङ्गीण विकासके साधनके रूपमें यदि बालकोंको पाठ्यक्रममें धर्म और संस्कृतिकी शिक्षा नहीं मिलेगी तो फिर उन्हें वह शिक्षा कहाँ और कब मिलेगी ?

'धर्मनिरपेक्षता' शब्दका अर्थ जितने भ्रामक रूपमें समझा जाता है, सम्भवतः अन्य कोई वैसा शब्द नहीं है। 'धर्मनिरपेक्षता' साम्प्रदायिकताका विरोधी है। इसकी राजनीतिक व्याख्या प्रस्तुत विचारसे परे है। इस सम्बन्धमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि राजनीतिमें 'साम्प्रदायिकता' शब्दका प्रयोग प्रतिकूल व्यक्ति अथवा दलके विरुद्ध शतरंज-की चालके रूपमें किया जाता है। प्रतिकूल होनेपर साम्प्रदायिकताका ढिंढोरा पीटा जायगा, जातिवादका हो-हल्ला मचाया जायगा और पक्षान्तरमें अनुकूल परिणामके लिये उन्हीं व्यक्तियों, दलोंसे गठबन्धन तथा जातिवादका खुलकर आश्रय लेना आम बात है। राजनीतिमें 'सुविधा' और किसी प्रकार सत्तारूढ़ होनेकी लक्ष्य-प्राप्ति ही सबसे बड़ी व्याख्या है, जो छलमात्र है। व्यावहारिक जीवनमें साम्प्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षताके सम्बन्धमें विचित्र-विचित्र धारणाएँ हैं। किसीसे पूछिये—साम्प्रदायिकता क्या है ? वह कहेगा हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि भेद, इनकी संस्थाएँ—जैसे मुस्लिमलीग, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, हिंदू-महासभा आदि जो भी इससे सम्बन्धित हैं। जहाँ हिंदूधर्म, शास्त्र, पुराण-चर्चा है, दर्शन-व्याख्या है, वह सब साम्प्रदायिक समझा जाता है। इसीसे कहीं विश्वविद्यालयके नामसे 'हिंदू' शब्द निकालनेकी बात सोची जाती है तो कहीं पाठ्यक्रमको ही बदलनेकी बात सोची जाती है। कोई बात कितनी ही लाभदायक एवं उपयोगी क्यों न हो, यदि उसमें कहीं भी धार्मिकता अथवा शास्त्रका उल्लेख हुआ तो उसे साम्प्रदायिक कहकर उपेक्षा कर दी जाती है। यह पागलपन यहाँतक बढ़ गया है कि पुरानी बातों, भाषा, व्यवस्था सभीको त्याज्य समझा जाने लगा है। आचार्य कृपलानीजीने प्रयाग-विश्वविद्यालय दीक्षान्त-समारोह-भाषणमें एक ऐसे ही प्रसंगकी चर्चा की थी। देशके एक आश्रमपद्धतिपर संचालित विश्वविख्यात विश्वविद्यालयके मुख्य स्थानपर संस्कृतमें लिखा था—'तमसो मा ज्योतिर्गमय'। एक कुलपति महोदयने आपत्ति की—'विश्वविद्यालय-जैसे अन्ताराष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्रमें वर्षों प्राचीन भाषा वर्गविशेषकी सीमामें बँधनेकी परिचायक है।' सीधा अर्थ हुआ यदि अच्छी-से-अच्छी बात संस्कृतमें कही जाय तो उसमें भी साम्प्रदायिकताकी गन्ध आने लगती है। पता नहीं, कुलपति महोदयको उपर्युक्त वाक्यका अर्थ ज्ञात था अथवा उन्होंने अज्ञानतावश ऐसा कहा। शिक्षित एवं उच्चपदासीन लोगोंके यदि ऐसे विचार हों तो जनसाधारणकी भ्रान्तियोंका तो कहना ही क्या ?

एक बात और भी है, व्यवहारमें 'धर्मनिरपेक्षता'की दुहाई अपने देशमें बहुसंख्यक धर्मके विरुद्ध ही अधिक दी

जाती है। सामान्य विद्यालयके पाठ्यक्रमोंके कतिपय हिंदूधर्म-प्रधान अंशोंपर तो आपत्ति की जाती है परंतु उन मिशनरी स्कूलोंके सम्बन्धमें कभी आपत्ति नहीं की गयी, जहाँ बायबिल पढ़ना अनिवार्य है, सभी वर्गोंको अपने पर्वोंको मनानेकी समान सुविधा नहीं है, बल्कि इन स्कूलोंमें लोग बच्चोंको भेजकर गर्वका अनुभव करते हैं। अंग्रेजीको जीविकाके उपयुक्त साधनके रूपमें अनावश्यक महत्त्व देकर इन संस्कृतिविरोधी मिशनरी स्कूलोंको धर्मनिरपेक्ष राज्य अपरोक्ष-रूपसे प्रोत्साहन दे रहा है। अपने देशका राष्ट्रपति दिल्लीसे बम्बईतक पोपसे मिलने जा सकता है, उसपर किसीको आपत्ति नहीं हुई, परंतु कतिपय मन्त्रियों, उच्चाधिकारियोंके एक आध्यात्मिक गुरुदर्शन करने जानेपर लोकसभामें आपत्ति की जाती है कि धर्मनिरपेक्ष राज्यके मन्त्री अधिकारी धार्मिक गुरुके पास कैसे गये? अथवा कोई मन्त्री विशेष किसी मन्दिर अथवा महात्माके प्रति आस्थावान् क्यों है? हिंदू-कोडबिलद्वारा क्रान्तिकारी तथा समान अधिकार, नारी-संरक्षणपर आधारित समाज-सुधार, धर्मनिरपेक्ष राज्यमें भी केवल हिंदुओंतक सीमित रहा, अन्य लोगोंको आश्वासन दिया गया कि उनके लिये इस प्रकारके नियम बनाकर उनके धर्ममें हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। यह एक प्रत्यक्ष असंगति है। धर्मनिरपेक्षता वस्तुतः धर्मविरोधीका पर्याय बन गया है। शब्दकोषमें इसका अर्थ ही बदलना होगा। धर्मकी इस राजनीतिक दासतासे मुक्ति आवश्यक है। धर्म बिना राजनीतिके चल सकता है, वह अपने अस्तित्वके लिये सरकारका मुखापेक्षी नहीं है; परंतु धर्मविहीन राजनीति विनाशकारी होगी; क्योंकि उसमें छल, कपटके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उसमें साधन जुटाने, उत्पादन बढ़ानेकी क्षमता हो सकती है, परंतु उचित वितरण, साधारण जनताकी समृद्धिके लिये आवश्यक मानवता, करुणा एवं प्रेमका भाव नहीं है। राष्ट्रीय योजनाओंकी प्रगति, राष्ट्रीय आयवृद्धिके बावजूद बढ़ती असमानता, निर्धनता, चोरबाजारी, घूसखोरी, मुनाफाखोरीके लिये बहुत कुछ धर्मविहीन राजनीति एवं धर्मविहीन नेतृत्व उत्तरदायी है। राजनीतिक व्यक्तित्वके भावकी प्रशस्ति एवं प्रचारसे सही मार्ग-दर्शन संदेहास्पद है।

हममेंसे अधिकांश धर्म, साम्प्रदायिकताके अर्थसे परिचित ही नहीं हैं अथवा सम्यक् ज्ञान नहीं है। साम्प्रदायिकता अथवा धर्म, जहाँ अन्य धर्मोंका आदर एवं मतावलम्बियोंके प्रति सौहार्दकी अपेक्षा उनके विरुद्ध घृणा, बल-प्रयोग, हिंसा अथवा बल दिखाकर, बहकाकर, फुसलाकर धर्मपरिवर्तनको प्रश्रय देता है, वहाँ त्याज्य है। परंतु इस प्रकारका धर्म वस्तुतः धर्म है ही नहीं; धर्मके क्षेत्रमें बल-प्रयोग प्रायः राजनीतिक उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये हुआ है, यह मानकर कि जो हमारी स्वीकृत जीवनपद्धति है, वही सर्वश्रेष्ठ और ठीक है। किसी भी धर्मप्रवर्त्तककी शिक्षा इसके अनुकूल नहीं है। यह विकृति उनके बादके लोगोंकी देन है। जहाँतक हिंदूधर्मका सम्बन्ध है, इसका प्रारम्भ ही होता है—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—अथवा सुप्रसिद्ध जैन सिद्धान्त 'स्याद्वाद' अनेकान्तवादसे दूसरेके मतमें भी औचित्य वैसा ही हो सकता है, जैसा अपने मतमें है। जहाँ कोई मतभेद हुआ या शंका हुई, उसका निर्णय हुआ शास्त्रार्थसे, न कि धार्मिक रक्तपात अथवा हिंसासे। वेदों, दर्शनशास्त्रों-सुप्रसिद्ध शान्ति-प्रकरणमें सम्प्रदाय, जाति-विशेषकी अपेक्षा मानव ही नहीं, बल्कि प्राणीमात्रके कल्याण एवं सुख-समृद्धिकी कामना की गयी है। कोई भी धर्म जन्मजात आचार-विचारकी विभिन्नताको नहीं मिटा सकता। हिंदू-मुसलमान, ईसाई नाम नहीं समाप्त कर सकता। हाँ, दिलोंका अलगाव रोक सकता है, उन्हें एक दूसरेका अभिन्न साथी भाई बना सकता है। आधुनिक हवासे अछूते गाँवोंके रहन-सहनमें ईद, होली, बकरीद, दशहरा, हिंदू-अहिंदूके अन्तरका नहीं पता लगता। सबके यहाँ ब्याह-शादीमें परस्पर रोटी-बेटी-जैसा व्यवहार लगता है। जहाँ राजनीतिकी छाया पड़ी, दरार आयी। अनेकरूपताके पीछे भी एकता और विविधताके बावजूद समानतामें ही धर्मकी सार्थकता है और यह एक कसौटी भी। बौद्ध, जैन, सिक्ख, निर्गुणवादी, सगुणवादी—ये सारे सम्प्रदाय हिंदूधर्मकी सौन्दर्य तथा सौरभमयी पुष्पवाटिकाके रंग-बिरंगे पुष्प हैं। गुरुगोविंद सिंह, बन्दा वैरागीने जिस धर्मकी रक्षाके लिये बलिदान दिया, वह हिंदूधर्म ही था। उनके कार्य करनेकी पद्धति विशिष्ट रही हो—यह बात अलग है। नानक, दादूपंथ आदि अभिन्न अङ्ग हैं। राजनीतिक उद्देश्यसे आज भले सिक्ख हिंदू एकताका नारा बुलंद करके दोनोंको अलग संज्ञा दी जाय, भले जनगणनामें बौद्ध, जैनको हिंदू न माना जाता हो, परंतु इससे सत्यपर आवरण नहीं डाला जा सकता। राजनीतिका कार्य ही है—भेद डालकर संघर्ष कराना और फिर उससे स्वयं लाभ उठाना। हम जानते हैं कि शासनपर

धार्मिक आधिपत्य होनेके कारण पश्चिममें कैथोलिक प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बियोंमें अमानवीय संघर्ष होता रहा। भारतमें मुगल साम्राज्यके समर्थकोंकी संख्या बढ़ाकर नींव सुदृढ़ करनेके लिये बलप्रयोगसे धर्मपरिवर्तन हुए और जाति एवं धर्मके आधारपर प्राप्त होनेवाली राजसत्ताके लोभमें भारतमें भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए, जिसकी परिणति भारत-विभाजनमें हुई। अतः हिंदूधर्मकी व्यापकता सहिष्णुताको समझनेकी अपेक्षा सम्प्रदायसे तुलना करना सागरको पोखरा बतानेकी अज्ञानताके अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

जहाँतक तथाकथित आपत्तिजनक अंशोंका प्रश्न है, जिनमें गौ, तुलसी, नदीको माँकी संज्ञा दी गयी है तथा उनका आदर करनेका निर्देश है। यह कहा जा सकता है कि शिक्षा एवं बुद्धिकी दृष्टिसे समाजमें तीन प्रकारके लोग होते हैं। शिशुकी भाँति ज्ञानरहित अथवा कम ज्ञानवाले, जिज्ञासु एवं मध्यम श्रेणीकी बुद्धिवाले विद्यार्थीकी भाँति औसत बुद्धिवाले और परिपक्व बुद्धिवाले ज्ञानी। धर्म एवं उसका आचरण इन तीनों वर्गोंके लिये बोधगम्य एवं ग्राह्य हो, इसके लिये पौराणिक कथाओं, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरकसे लेकर जटिलतम साधना दर्शन मिलता है। ये सब धर्मकी सीढ़ियाँ हैं, जिनपर आगे बढ़ना चाहिये। लोगोंके गुण-स्वभावके अनुसार ज्ञान, कर्म और भक्ति तथा विभिन्न उपासना-पद्धतियोंकी व्यवस्था की गयी है। जल, वह भी गङ्गा-जैसी नदीका ओषधियुक्त एवं रोगनाशक है। उसका सेवन लाभप्रद है, उस जलको दूषित नहीं करना चाहिये, उसकी सुरक्षा करनी चाहिये अथवा गो दूध देती है, खाद देती है, उसकी सींग-हड्डी काम देती है। अतः उसकी रक्षा करनी चाहिये। वातावरणमें अशुद्ध वायुकी शुद्धिके लिये यज्ञ करने चाहिये, अथवा अगरबत्ती-धूप जलाना चाहिये, यदि ऐसा कहा जाय तो सम्भवतः अनपढ़ साधारण व्यक्तिकी समझमें कुछ नहीं आयेगा। अतः कहा गया है—गङ्गा आदि नदियाँ, सूर्य, वायु, अग्नि माता-पिताके तुल्य हैं। इनका आदर करना चाहिये। नदीका जल गंदा करनेसे वरुण देवता रुष्ट हो जाते हैं, पाप होता है। यदि कोई इस आधारपर प्रचार करे कि हिंदूधर्म ऐसी मूर्खताकी शिक्षा देता है कि नदी माँ है, अग्नि पिता। मनुष्यका जन्म स्त्रीके गर्भसे न होकर नदीसे होता है तो उसे क्या कहा जायगा ? इस प्रकारकी अधिकांश उपासना-पद्धतियाँ, शिक्षाएँ व्यापक, शारीरिक, मानसिक दृष्टिसे हितकर एवं मानव-कल्याणपर आधारित हैं। गङ्गाजल, तुलसीका पौधा, दूध यदि लाभप्रद है तो धर्मविशेषकी अपेक्षा मानव-मात्रके लिये, पशु-पक्षियोंके लिये भी। धार्मिक अनुष्ठान एवं कर्तव्यके रूपमें इस प्रकारकी शिक्षाओंको कर्मकाण्डकी व्यवस्था करके उन्हें ग्राह्य और बोधगम्य बना दिया गया है। इस प्रकारकी शिक्षाओंसे किसीका अहित नहीं होता। विशुद्ध धार्मिक भावनासे बद्रीनाथसे रामेश्वरम् तथा पुरीसे द्वारिका तककी देशव्यापी तीर्थयात्रा भी बुद्धिकी व्यापकता तथा देशकी भावात्मक एकताकी दिशामें दूरदर्शितापूर्ण व्यवस्था की गयी है। इसी प्रकार सगुण-निर्गुण उपासना-पद्धतियोंकी व्यवस्था है, जो निर्गुण तत्त्वको नहीं ग्रहण कर पाता, ध्यान नहीं स्थिर कर पाता, वह सगुणपर ध्यान केन्द्रित करे। धर्म एक सतत प्रवहमान सागर-जैसा है, जिसका प्रवाह हम नहीं रोक सकते; ऐसा करना हमारी सामर्थ्यसे परे है। हाँ, यदि हम प्रवाहके साथ आगे बढ़नेकी अपेक्षा रुक गये तो पिछड़ जायँगे और यदि अधिक शिथिलता दिखलायी तो अगाध जलमें कहीं समा भी जायँगे। विद्वान् जानते हैं कि उच्चतम-दर्शनमें सबको असत् बताया गया है। पर प्रारम्भिक अवस्थामें इनकी उपयोगिता, चलना सीखनेके लिये, बच्चेको दी गयी गाड़ी-जैसी है। लोगोंको सरस्वती नाम, उनकी हिंदू वेश-भूषासे चिढ़ है, यद्यपि सारा रूप प्रतीकात्मक सगुण रूप है। सफल ज्ञानके तीन अङ्ग हैं—उच्चतम-ज्ञान, शुष्क ज्ञानकी अपेक्षा कलात्मकता, करुणा, ममताका सामञ्जस्य और नीर-क्षीर-विवेकी बुद्धि—इन सबका प्रतिफल शान्ति, जिसका रंग विश्वके सभी लोग श्वेत मानते हैं। इन सारे गुणोंका पोथी, वीणाधारिणी नीर-क्षीर-विवेकी हंसवाहिनी श्वेतवस्त्रधारिणी ममतामयी सरस्वतीके रूपमें समावेश किया गया है। 'सृ गतौ' धातुसे 'सरस' उससे मतुप् और ङीप् प्रत्ययसे सिद्ध 'सरस्वती' शब्दका अर्थ ही है—'सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चितौ सा सरस्वती।' जिसे शब्द, अर्थ तथा उनके प्रयोगका सम्यक् ज्ञान हो। उपर्युक्त गुण किसी भी राष्ट्र, देशके लिये और प्रत्येक युगमें आवश्यक हैं; परंतु हम इन व्यापक सिद्धान्तोंको समझनेकी अपेक्षा साम्प्रदायिक कहनेसे बाज नहीं आते। प्रायः आलोचना की जाती है। आज जब मानव सागरको रौंदते हुए आगे बढ़ रहा है, नदियोंको बाँध रहा है, रोगोंपर विजय प्राप्त करता जा रहा है, हिंदूधर्म असहाय दुर्बल

रूपमें सागर, नदी, शीतला माईको फूल चढ़ानेकी शिक्षा देता है। समाजकी अज्ञानता, कुरीतियोंको रेखाङ्कित करके इस प्रकारकी आलोचना शरारतभरा प्रचारमात्र है। जैसे कुछ रेलवे अथवा विमान-दुर्घटनाओंको लेकर प्रचार किया जाय कि रेलों, विमानोंको समाप्त कर देना चाहिये। वस्तुतः अकर्मण्य व्यक्तिके लिये धर्ममें कोई स्थान नहीं है। ईश्वर-प्रदत्त प्रकृति एवं सुविधाओंका अपने ज्ञान और पुरुषार्थके द्वारा पूरा-पूरा प्रयोग करते हुए कल्याण करना मानव-धर्म है। 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' में ही सार्थकता है। समाजसे विमुख धर्मका कोई अस्तित्व नहीं है और धर्म-विमुख समाज जंगली पशुओंका समूहमात्र है। आध्यात्मिक साधनाके क्षेत्रमें भी अध्ययन, मनन, निदिध्यासन अवस्थाओंके रूपमें निरन्तर आगे बढ़नेकी व्यवस्था की गयी है। इसी प्रकार धार्मिक कर्मकाण्ड उपासनाकी भी सफलता समझकर सम्यक् ज्ञानके साथ करनेसे ही होती है। आवश्यकता है स्वस्थ दृष्टिकोण अपनानेकी। आधुनिकताके नामपर, प्रगतिशीलताकी आड़में जो कुछ पुराना है, भले उससे हमारा लाभ ही क्यों न हो, सब छोड़ देना, बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। कोई भी वृक्ष कितना विशाल, ऊँचा और घना क्यों न हो, उसका जीवन इसपर निर्भर करता है कि उसकी जड़ें कितनी गहराई तक गयी हैं ? इस साधारण तथ्यको भी यदि हम सांस्कृतिक जीवनके संदर्भमें न समझ सकें तो यह हमारा दुर्भाग्य है !

यह दावा करना तो असङ्गत कहा जा सकता है कि हिंदूधर्म अन्य धर्मोंसे श्रेष्ठ है, अथवा इसके गुण अन्य धर्मोंमें नहीं हैं। परंतु प्रत्येक देश अपने देशके बहुमतका धर्म, संस्कृतिका प्रतिनिधित्व करता है—वह अरब हो, अमेरिका हो, इंगलैण्ड हो। उन देशोंमें अन्य धर्मावलम्बियोंका कोई गला नहीं घोंटा जाता और न अपने देशसे कम सुविधाएँ अथवा स्वतन्त्रता है, परंतु उनके धर्ममें 'खीचड़ी' खींचतान नहीं है। यह तथ्य अपरोक्षरूपसे भारतविभाजनकी स्वीकृति देकर स्वीकार किया जा चुका है कि भारत हिंदूप्रधान देश है, प्रजातन्त्रकी दृष्टिसे भी यहाँ हिंदूधर्मका प्राधान्य स्वाभाविक है। हिंदू अथवा हिंदू-धर्मको अपने देशमें ही देशनिकाला नहीं दिया जा सकता। हमारे नागरिक, हमारा जीवन याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, रामतीर्थ, रामकृष्ण, विवेकानन्द आदिकी परम्पराका प्रतिनिधित्व करें, हमारे जीवनमें स्वदेशी वस्त्रोंके ही नहीं, विचारों एवं दर्शनके संस्कारोंका भी यथेष्ट प्रभाव हो। उपासना-पद्धतियों, धर्मोंका तुलनात्मक अध्ययन, मनन, अनुशीलन अवश्य हो, जिससे दृष्टिकोण व्यापक एवं सौहार्दपूर्ण हो। उच्चतम सेवामें प्रत्येकको भाग लेनेका अधिकार है। अतः सभी लोगोंको यहाँके धर्मशास्त्र, संस्कृतिकी यथेष्ट एवं ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है, जिससे, कम-से-कम विदेशी अतिथियोंके सामने अथवा विदेशोंमें अज्ञानता, अनभिज्ञता अथवा ऊटपटाँग ज्ञानसे स्वयं हास्यास्पद होनेके साथ हमारा मस्तक लज्जासे नीचा न हो। धर्म एवं संस्कृतिके सम्बन्धमें लोगोंको जैसा भ्रम है, जैसा अधकचरा ज्ञान है, उसे देखते हुए धर्म, धर्मशास्त्रों एवं संस्कृतिकी ठीक-ठीक शिक्षा नितान्त आवश्यक है। यह शिक्षा भारतमें नहीं तो, फिर क्या अरब, इंगलैंड, अफ्रीकामें मिलेगी ? बाँध, कल-कारखानेकी शिक्षाके साथ मनुष्य—इन्सान बननेकी शिक्षा अत्यधिक आवश्यक है। यदि सरकार स्वयं इसे करनेमें अयोग्य सिद्ध हो तो इसे अन्यान्य आध्यात्मिक संस्थाओं तथा साधु-महात्मा एवं विद्वानोंको करना होगा, जिनके पास विदेशोंसे आये अनेक जिज्ञासु सीखने, ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकारके ज्ञानप्रसारसे, बिना अध्ययन किये, धर्म-संस्कृतिपर इस प्रकार कीचड़ उछालने तथा प्रहार करनेका दुःसाहस करनेवालोंमें कमी होगी। पाठशालाओं, मिशनरी स्कूलों एवं अन्य शिक्षण-संस्थाओंमें धर्मशिक्षाकी पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

उच्चतम कक्षाओंके पाठ्यक्रममें भारतके धर्म एवं संस्कृतिकी शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिये। पाठ्यक्रममें तुलनात्मक अध्ययनकी व्यवस्था हो, पारस्परिक घृणा, हिंसा, वैमनस्यपर आधारित धर्मके नामपर स्वार्थसिद्धि हेतु प्रचारित सिद्धान्तोंको दूर रक्खा जाय, परंतु अन्ततः हमें भारत देशकी सहस्रों वर्ष पुरानी गौरवशाली परम्परा-सतत प्रवहमान सांस्कृतिक जाह्नवीका प्रतिनिधित्व तो करना ही होगा। ठीक-ठीक अध्ययनसे ज्ञात होगा कि प्राणीमात्रको ईश्वररूप माननेवाले करुणा-प्रधान धर्ममें हिंसा, घृणाके लिये स्थान है ही नहीं। करुणाका क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसके अन्तर्गत मनुष्य ही नहीं, पशु, पक्षी—सब आ जाते हैं। धर्म सांसारिक जीवनके प्रति उदासीन नहीं है। धर्म, अर्थ, काम और फिर मोक्षके रूपमें जीवनके सारे पक्ष इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। धर्म सघन वनों, गुफाओं, कन्दराओंमें बैठे साधु-महात्माओंके

साथ दैनिक जीवनमें हमारा मार्ग दर्शन करता है। आपत्कालमें तो शास्त्रोंके साथ शस्त्र, कमण्डलुके साथ दण्डकी भी व्यवस्था की गयी है। धर्मशिक्षा केवल इसलिये आवश्यक नहीं कि वह देशके बहुमतका अधिकार है, परंतु केवल रोजी-रोटीके लिये एक दूसरेका गला काटने, नोचने, खसोटनेकी वृत्तिप्रधान हमारी शिक्षा, भौतिक विकासके साथ धर्मशिक्षा शायद हमें मनुष्य बनानेमें सहायक हो। हमें उन अनेक प्रश्नों, समस्याओंका समाधान मिल सके, जिन्हें ढूँढ़नेमें वर्तमान भौतिक, वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति असफल सिद्ध हुई है।

उपासनाकी महिमा

(लेखक—प्रो० डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, व्या० सा० आचार्य, त्रिभुवन विश्वविद्यालय, काठमाण्डू, नेपाल)

अपने वास्तविक अनुभवके आधारपर मनुष्य जिस निष्कर्षपर पहुँचता है, उसमें तर्ककी आवश्यकता नहीं होती। यों तो ईश्वर, धर्म, परलोक आदिके सम्बन्धमें हमारे वैदिक सनातन आर्य-साहित्यमें ऋषियोंने जो कुछ कहा है, वह सभी उनके अपने प्रत्यक्ष दर्शन और अनुभवके आधारपर ही है। प्रत्यक्षद्रष्टा होनेके कारण ही उन्हें 'ऋषि' कहते हैं।[1] 'शतपथ ब्राह्मण' भी यही बतलाते हैं कि "तपस्या करते हुए जिन महापुरुषोंके सामने नित्य स्वयम्भू ब्रह्म-वेद स्वयं प्रकट हुए, वे ही 'ऋषि' हुए।" इस प्रकार वेद-मन्त्रोंके प्रत्यक्ष दर्शन करनेके कारण ही उन्हें ऋषि कहते हैं।[2] इसीलिये इन महर्षियोंके द्वारा प्रतिपादित विषयोंमें साधारण तर्क करनेका निषेध किया गया है।[3]

अपने आराध्य इष्टदेवकी उपासनासे न केवल उपासकको अनिर्वचनीय सद्यः परमानन्द मिलता है, जो प्रत्यक्ष अनुभवमात्रैकगम्य है, अपितु वह यथाभिलषित फल प्राप्त करता है। राग-द्वेषसे विनिर्मुक्त मानव जब अनन्यभावसे भगवान्‌की शरणमें जाकर उनकी उपासना करता है, तो भगवान् उसके योगक्षेमका भार अपने ऊपर ले लेते हैं।[4] इस भौतिक जगत्‌में भी देखा जाता है कि बड़े-से-बड़ा अपराधी जब नियम-कानूनके द्वारा अपनेको प्रशासकीय महादण्डसे मुक्त नहीं कर पाता है, तब वह राष्ट्रनायककी शरणमें जाकर अन्तिम प्रार्थना करता है और उसकी कृपासे अपनेको मुक्त कर पाता है। उसी प्रकार करुणावरुणालय आनन्दमहासागर विश्वनायक भगवान् उस उपासकपर अपनी कृपा करते ही हैं जो अनन्यभावसे शरणमें जाकर उनकी उपासना करता है।

शास्त्रीय पद्धतिसे ईश्वरतत्त्वपर प्रवचन करनेवालेको या बुद्ध्यनुगत नाना प्रकारके तर्कोंसे परमात्मतत्त्वको समझने या समझानेवालोंको अथवा जो उस विषयमें बहुत कुछ सुनते रहते हैं, उनको भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती। भगवान् तो केवल उन्हीं उपासकोंको मिलते हैं, जो अपनी उपासनासे उन्हें अपने वशमें करनेका प्रयास करते हैं।[5] प्रवचन, मेधा आदिके द्वारा ईश्वरको प्राप्त न करनेके बाद ही प्रत्यक्ष द्रष्टा ऋषिने ऐसा कहा है।

ज्ञान, श्रद्धा, भक्ति तथा प्रपत्तिपूर्वक आराध्यकी समर्चनाको 'उपासना' कहते हैं। इसलिये उपासनामें ज्ञान साधनरूपसे ही महत्त्वपूर्ण होता है। उपासनाकी त्रिवेणीमें ज्ञान, भक्ति और प्रपत्तिकी तीन धाराएँ मिली हुई हैं। जिस भावुक-हृदयमें इस त्रिवेणीका संगम है, वहीं सच्चिदानन्दकी वास्तविक तरङ्ग उठती है। इसीलिये तो उपासनाकी इतनी महिमा है। ज्ञानी सज्जन भी जिस भगवान्‌की आराधना सरलतापूर्वक नहीं कर पाते, उन्हें उपासक एकान्तभक्तिसे आराधित कर सफल-मनोरथ होते हैं—

१. ऋषिर्दर्शनात्—'निरुक्त'।

२. यदेनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवन् तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते। (शतपथब्राह्मण)

३. नैषा तर्केण मतिरापनेया… (कठोपनिषद् १।२।९)

४. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ (गीता ९।२२)

५. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। (कठोपनिषद् १।२।२३)

तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया ।
एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत् पादमूलं विना बहिः ॥
(श्रीमद्भागवत ४ । २४ । ५५)

विविध तपस्याओंसे प्राणी उस प्रकार पवित्रात्मा नहीं हो पाता है, जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें जाकर उनकी उपासनासे पूतात्मा होता है ।

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः ।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया ॥
(श्रीमद्भागवत ६ । १ । १६)

यशोदानन्दन भगवान् श्रीकृष्ण इसीलिये तो भक्त उपासकके लिये जितने सुखसे प्राप्य हैं, उतने आत्मज्ञानीके लिये भी नहीं ।

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥
(श्रीमद्भागवत १० । ९ । २१)

अत्याचारी दैत्यराज हिरण्यकशिपुके वधके अनन्तर भी उसपर क्रोधाभिभूत भगवान् नृसिंहको ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, ऋषि, सिद्ध, यक्ष, किन्नर, नाग, गन्धर्व, विद्याधर, मनु, प्रजापति आदि अपनी-अपनी स्तुतियोंसे जब शान्त करनेमें असमर्थ हो जाते हैं[६], तब ब्रह्माजी प्रह्लादको भगवान् नृसिंहके पास उन्हें शान्त करनेके लिये भेजते हैं । प्रह्लाद ज्यों ही उनकी शरणमें जाते हैं और नतमस्तक हो उनकी उपासना करते हैं, चरणावनत प्रह्लादको देखते ही भगवान् करुणा-परिप्लुत हो उठते हैं । बालकको उठाकर, उसके सिरपर कोमल कराम्बुज रख उसे सर्वदाके लिये धन्य कर देते हैं[७] ।

उपासनामें 'प्रपत्ति' परमावश्यक है । प्रपन्न व्यक्तिके अपने पौरुषका अभिमान विलीन हो जाता है । सर्वशक्तिमान्‌के समक्ष अपने पौरुषका अभिमान वस्तुतः बहुत बड़ा अज्ञान है ! मनोरथकी सिद्धिमें कितना बड़ा प्रतिबन्धक है ! गजेन्द्र अपने पौरुषबलसे ग्राहके साथ बरसोंतक संघर्ष करता रहा, पर परिणाम क्या हुआ ? अन्तमें अपने पौरुषका अभिमान छोड़कर 'प्रपन्न' हो, ज्यों ही उसने शरणागतवत्सलकी कातर प्रार्थना की, त्यों ही निखिलामरमय भगवान् चक्रायुधने तुरंत प्रकट होकर न केवल उसकी रक्षा की, अपितु उसे कृतकृत्य कर दिया ।

'उपासना' इहलौकिक, पारलौकिक सभी कामनाओंकी सिद्धिमें साधन होते हुए भी स्वयं सुखरूप है । अतएव इसकी इतनी बड़ी महिमा है ।

अशरण-शरणसे प्रार्थना

आर्तत्राणपरायण सहज सुहृद करुणार्णव परम उदार ।
दीनबन्धु, पामर-उद्धारक, पावन-पतित, अमित दातार ॥
अशरण-शरण अकिंचनके धन भयहर दयासमुद्र अपार ।
मुझ-जैसे सम्पूर्ण पतितके लिये तुम्हीं प्रभु ! हो आधार ॥
दीन-हीन मुझ अशरणको दे पावन चरणयुगलमें स्थान ।
कर दो मुझे अभय अति निर्मल-चित्त-चरित्र आशु भगवान ॥
तनसे करूँ नित्य मैं सेवा, करूँ वचनसे नित गुणगान ।
सेवारत हों सभी इन्द्रियाँ, मन नित करे तुम्हारा ध्यान ॥

६. एवं सुरादयः सर्वे ब्रह्मरुद्रपुरस्सराः । नोपैतुमशकन् मन्युसंरम्भं सुदुरासदम् ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ९ । १)

७. श्रीमद्भागवत ७ । ९ । ४–६ ।

सनातन-(विश्वमानव-)धर्मके ज्ञान, ग्रहण और प्रसारकी आवश्यकता

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥
(मुण्डकोपनिषद् २ । २ । ११)

'यह अमृतस्वरूप (मृत्यु, विकार, दुःख, शोक आदिसे रहित नित्य सत्य पूर्ण परमानन्दघन) ब्रह्म ही इस विश्वके रूपमें लीला करता हुआ हमारे सामने, पीछे, दाहिने, बायें, नीचे, ऊपर—सर्वत्र प्रसारित हो रहा है । यह ब्रह्म ही सम्पूर्ण विश्वका सर्वश्रेष्ठ वरणीय सत्य स्वरूप है ।'

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥
(शुक्लयजुर्वेद ४० । १—ईशावास्योपनिषद्)

'इस अखिल विश्वजगत्में इन्द्रिय-मन-बुद्धि-गोचर और इसका अङ्गीभूत जो कुछ भी जड-चेतन जगत् है, वह सब एकमात्र ईश्वरसे व्याप्त है—उसका यथार्थ स्वरूप ईश्वर ही है । उस ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक भोगते रहो, कहीं भी आसक्त मत होओ; धन—भोगपदार्थ किसका है ?'

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गीता ६ । २९)

'सर्वत्र समदृष्टि रखनेवाला योगयुक्त पुरुष सब (चराचर) भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखता है ।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥
(गीता १० । ३९)

(भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—) 'अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ । ऐसा चराचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित (पृथक्) हो । यह सब मेरा ही (भगवान्‌का ही) स्वरूप है ।'

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २ । ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, जीव, दिशा, वृक्ष, नदी, समुद्र और जो कुछ भी चराचर भूत है, सब हरिका शरीर है—ऐसा मानकर अनन्य भावसे सबको प्रणाम करे ।'

इस प्रकारके असंख्य वचन हमारे वेद, उपनिषद्, पुराण, शास्त्रोंमें भरे हैं । और यह है हमारे पूतप्राण ऋषियोंका 'अनुभूत सत्य'—उनकी 'प्रत्यक्ष उपलब्धिका स्वरूप' । यही 'सनातनधर्म' है । यही 'आर्य (हिंदू)संस्कृति' है । भारतवर्ष इस पुण्य 'सत्य दर्शन'का आदिक्षेत्र है । इसीसे भारतका दर्शन-विज्ञान; साहित्य-कला; उसकी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय, व्यावहारिक और शारीरिक आदि सारी नीति-पद्धतियाँ; उसके राष्ट्रका, जातिका, समाजका, कुलका और व्यक्तिका धर्म आदि सब कुछ इस 'सनातन धर्म'से ही अनुप्राणित है । इस धर्मको ही जीवनका परम आदर्श मानकर सारे सिद्धान्तों, मतों तथा नीति-नियमोंका निर्माण हुआ है । यही पवित्र 'सनातनधर्म' या 'हिंदू-संस्कृति'का स्वरूप है । एक ही शरीरके बिभिन्न अङ्ग-उपाङ्गोंमें नाम, रूप तथा व्यवहारका भेद होते हुए भी जैसे सबमें एक ही आत्माकी नित्य निश्चित प्रत्यक्ष अनुभूति है, अतः सबका हित-साधन सहज स्वाभाविक है; वैसे ही विश्वके चराचर भूतमात्रमें राग-द्वेषरहित, हिंसा-घृणा-भय-शून्य, देहेन्द्रिय-मनकी अधीनतासे मुक्त, जाति-वर्ग-सम्प्रदायके भेदाभिमानजनित संकीर्णताओंसे सहज ही अतीत, शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि तथा चित्तके सरल भावसे एकमात्र दिव्य सत्य आत्माकी या भगवान्‌की अनुभूति और उसी अनुभूतिके आधारपर नित्य भ्रमप्रमादादिसे रहित समाहितचित्तसे सहज ही सर्वकल्याणकर विचार-चिन्तन, व्यवहार-बर्ताव तथा आचार्य-क्रियाका होना—'भारतीय हिंदू-संस्कृति' या 'सनातनधर्म'का जीवन-दर्शन है ।

हमारे इस अनादि नित्य सनातनधर्ममें, जिसे आत्मधर्म या 'विश्वधर्म' कह सकते हैं—जडमें चेतन, ससीममें असीम, सादिमें अनादि, सान्तमें अनन्त, अनेकमें एक, विभक्तमें अविभक्त, भेदमें अभेद तथा परायेमें अपना—'पर'में 'स्व'का प्रत्यक्ष बोध तथा दर्शन करानेकी शक्ति है । यही विश्वजनीन विश्वमानवधर्म—सनातनधर्म सारे संसारके प्राणिमात्रका लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक कल्याण-साधन करनेमें समर्थ है ।

इसी सनातन धर्मके परलोक, पुनर्जन्म तथा जन्म-जन्मान्तर-में कर्म-फल-भोगका सिद्धान्त ऋषियोंद्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत

तथा मान्य है, जिसके कारण मनुष्य दुष्कर्म करनेमें डरता है।

बड़े ही दुःखका विषय है कि आज इसी 'सनातनधर्म' 'भारतीय आर्य (हिंदू-) संस्कृति'की शिक्षाका अभाव ही नहीं हो रहा है, इसकी अवाञ्छनीय अवहेलना और घोर तिरस्कार हो रहा है! इसीसे आज सर्वत्र मानवका 'स्व' अत्यन्त सीमित क्षेत्रमें संकुचित हुआ जा रहा है और क्षुद्र 'स्व'के हितकी भ्रमपूर्ण मिथ्या धारणासे राग-द्वेषका आश्रय लेकर मनुष्य एक दूसरेका विनाश करनेपर तुल गया है! इसीसे मोहावृत और विलास-विभ्रमरत मानव आज क्षुद्र स्वार्थके पीछे—स्वहितकी मिथ्या धारणासे पर-हित-नाशक-मानो व्रत लेकर स्वयमेव 'आत्महत्या' कर रहा है। और इसीसे वह अनर्गल अवैध यथेच्छाचारको कर्तव्य-सा मानकर मनमाना दुराचार कर रहा है। अध्यात्मरहित भौतिक विकासने, जो घोर विनाशका पूर्वरूप है, आज विश्वमानवके ज्ञाननेत्रोंपर मोहका आवरण डालकर उसे प्रायः दृष्टिहीन या विपरीतदर्शी बना दिया है। 'अध्यात्म'-की लीलाभूमि भारत भी आज इस मोहसे आच्छन्न है। इसीसे 'धर्मनिरपेक्ष' (सेक्युलर) के नामपर 'धर्मशून्य'-सिद्धान्तका पोषण करके वह मानवको पशु, पिशाच या राक्षस बनानेके अधम कार्य करनेमें प्रवृत्त है। शिक्षालयोंमें 'धर्मशिक्षा' बंद है; छोटी उम्रसे लड़कियाँ तथा लड़के शिक्षाके नामपर उन शिक्षाक्षेत्रोंमें, शिक्षामन्दिरोंमें, विद्यालयोंमें भेजे जाने लगे हैं, जहाँ धर्मका नाम नहीं है, आचार-हीनताको गौरव दिया जाता है, प्रकारान्तरसे यथेच्छाचार, उच्छृङ्खलता एवं उद्दण्डताको उन्नतिका चिह्न बतलाया जाता है, गुरुजनोंका अपमान तथा बिना ही समझे-सोचे अपने धर्म, अपनी संस्कृति-सभ्यताके प्रति घृणा—कम-से-कम अवहेलना या उदासीनता करना सिखलाया जाता है। जहाँकि दूषित वातावरणसे और सच्ची धार्मिक शिक्षाके अभावसे 'सफाई'के नामपर 'शुद्धि'का, 'स्वतन्त्रता'के नामपर 'नियमानुवर्तिता', 'अनुशासन' और 'संयमशीलताका', 'सुधार'के नामपर कुलपरम्परागत 'सदाचार'का, 'प्रगति'के नामपर 'भोजनकी शुद्धि' आदि सद्गुणोंका अबाध विनाश किया जा रहा है और 'अभक्ष्य आहार' तथा 'असदाचार'में उत्साह तथा उल्लासयुक्त प्रवृत्ति करवायी जा रही है और इसे 'विकास' माना जाता है! यही विकासका (विनाशका) क्रम विश्व-विद्यालयोंकी उच्च शिक्षातक उत्तरोत्तर उन्नत होता चलता है। धर्म तथा आचारकी शिक्षा न घरमें मिलती है, न बाहर!

इसीके साथ-साथ उन्नतिके नामपर 'सह-भोजन', 'सह-शिक्षा', होटलोंमें सब कुछ तथा सब तरहसे बने हुए पदार्थोंका 'अनर्गल आहार', 'उच्छिष्ट भोजन', 'निर्लज्ज' तथा 'अमर्यादापूर्ण डान्स' आदि चलते हैं। 'सिनेमा' तथा इन्द्रियोंमें 'अनुचित उत्तेजना पैदा करनेवाला साहित्य' अपना अलग प्रभाव डालते हैं। परिणाम यह होता है कि आज कोई 'धर्म'के नामसे डरता है, कोई घृणा करता है, कोई सम्प्रदाय कहकर मखौल उड़ाता है, कोई धर्मकी बात सोचकर व्यर्थ समय नष्ट करना समझता है और कोई-कोई तो धर्मको उन्नतिका सर्वथा विघातक समझते हैं। धर्महीन विचार, धर्महीन शिक्षा, धर्महीन बाहरी छोटे-बड़े आचार-व्यवहार—सब मिलकर आज मनुष्यको मानवतासे गिराकर उसे पशुता और असुरतामें परिणत कर रहे हैं! इस प्रकार द्रुतगतिसे जो 'धर्महीन समाज'का निर्माण हो रहा है, इसका परिणाम कितना भयानक होगा, इसपर गम्भीरतासे विचार करनेकी आवश्यकता है!

भारतवर्षका यह सनातनधर्म ही था, जो विश्व-चराचर-में एक भगवान् या एक आत्माके दर्शन कराकर सबमें सहज प्रेमका विस्तार कर सकता था। प्रेम त्यागसे होता है और अपने हितके लिये मनुष्य सहज ही त्याग करता है। जब सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जाती है, तो सबका हित ही अपना हित हो जाता है; फिर कैसे कोई किसीका अहित-चिन्तन या अहित-साधन कर सकता है? इसीसे मनीषियोंका यह मत है कि "जगत्के सब मत नष्ट हो जायँ, तो हर्ज नहीं है; सबमें एक आत्माके दर्शन करनेवाला यह विश्वमानवका 'सनातनधर्म' जीवित रहेगा तो, सब जीवित रहेंगे—सबका कल्याण होगा। पर यही धर्म यदि नहीं रहेगा, (यद्यपि इसकी सम्भावना नहीं है; क्योंकि यह 'सत्य' है और 'सत्य' कभी मरता नहीं, वह किसी-न-किसी अंशमें रहता ही है) तो समस्त विश्वका विध्वंस हो जायगा और वर्तमानमें इसी सनातनधर्मका ह्रास हो रहा है। इस 'सनातनधर्म' और 'हिंदू-संस्कृति'के स्वरूपको जानने-माननेवालोंकी संख्या दिनों-दिन घटी जा रही है, इसकी शिक्षाका अभाव हुआ जा रहा है। सनातनधर्म तथा सनातन-हिंदू-इतिहासका अज्ञान बढ़ा जा रहा है। यह विश्वके भविष्यके लिये बड़े भारी खतरेकी चीज है। अतः यदि विश्वकल्याणके साथ ही

भारतको तथा मनुष्यमात्रको राष्ट्रका, देशका, समाजका तथा व्यक्तिगत अपना कल्याण इच्छित है, तो इस सनातनधर्मको समझना, समस्त शिक्षालयोंके शिक्षाक्रममें सनातनधर्मकी शिक्षाकी व्यवस्था करना; सनातनधर्मकी महत्ता, उदारता, सर्वजीवहितैषिताकी सद्विक्षाका प्रचार-प्रसार करना, इसकी शिक्षाका ग्रहण करना, इसे जीवनमें क्रियारूपमें उतारना और समस्त विश्वको इसका मङ्गल-संदेश देना परम आवश्यक और अविलम्ब अनिवार्य कर्तव्य है !

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

संस्कृतिकी रक्षाके लिये छोटी-छोटी प्रतिज्ञाएँ

सनातनधर्म या भारतीय आर्यसंस्कृतिकी रक्षाके लिये बड़े-बड़े कार्य तो करने चाहिये ही। नीचे लिखे छोटे-छोटे दोष, जो समाजमें आ रहे हैं, जो संस्कृति-विरोधी होनेके कारण—एक-एक सूत मिलकर मोटा मजबूत रस्सा बन जाता है, वैसे ही संस्कृतिके नाशके बहुत बड़े कारण बन सकते हैं, उन्हें मिटानेके लिये 'कल्याण'के ग्राहक, पाठक-पाठिकाओंसे यह अपील की जाती है कि वे स्वयं तथा अपने बालकोंसे नीचे लिखे कार्य न करने-करानेकी प्रतिज्ञा करें-करायें तथा स्थान-स्थानपर इसका प्रचार करें। छोटी-सी बात दीखनेपर भी इसका बड़ा प्रभाव होगा और विनाश-समुद्रकी ओर जाती हुई समाज-सरिताकी धारामें रुकावट होगी। आशा है इस संस्कृति-रक्षाके कार्यमें सब लोग सहायता करेंगे।

१–हम किसीका उच्छिष्ट (जूठा) भोजन नहीं करेंगे।

२–हम मांस, अण्डा, मद्य नहीं खायें-पीयेंगे।

३–हम उन होटलोंमें नहीं खायेंगे, जिनमें मांस पकता है।

४–हम पर-पुरुष तथा पर-स्त्रियोंके साथ कहीं भी डांस नहीं करेंगे।

५–हम अपने लड़के-लड़कियोंको सह-शिक्षावाले शिक्षालयोंमें नहीं भेजेंगे।

६–हम चुस्त कपड़ा नहीं पहनेंगी।

७–हम अश्लील साहित्य नहीं पढ़ेंगे।

८–हम अपने बच्चोंको माताको 'मम्मी', पिताको 'पापा' या 'डैडी' कहना न सिखाकर, कहते हों तो रोककर माताको, 'माताजी', 'अम्माजी', 'माँ'; पिताको 'पिताजी', 'बाबूजी' आदि कहना सिखायेंगे।

९–हम भोजन करके हाथ धोकर कुल्ला अवश्य करेंगे।

× × × ×

१–हम माता, पिता, सास, ससुर, बड़े भाई आदि गुरुजनोंको प्रतिदिन प्रणाम करेंगे।

२–हम प्रातःकाल उठते समय और रातको सोते समय भगवान्‌का नाम-स्मरण करेंगे।

इनमेंसे जो जिन-जिन नियमोंका पालन कर सकें, उनके लिये प्रतिज्ञा करके सूचना देनेकी कृपा करें। हमारा तो निवेदन है कि सभीका पालन करें। इसमें बहुत लाभ होगा। इनके अतिरिक्त परम्परागत भारतीय वेश-भूषा, सदाचार, खानपानपद्धति आदि नित्यके धार्मिक कृत्य आदिपर भी पूरा ध्यान रखना चाहिये।

सनातनधर्मके ह्राससे होनेवाले देशव्यापी अनर्थ

उपद्रवी तत्त्व

देशमें सनातनधर्म या आत्मधर्म अथवा विश्व-मानव-धर्मका ह्रास हो रहा है, इसीका प्रत्यक्ष परिणाम है—देश-मानवकी वर्त्तमान पतित मनोवृत्ति, उसकी राग-द्वेषपूर्ण मानस-स्थिति और उसके विध्वंसकारी राक्षसी क्रिया-कलाप, जो न्यूनाधिकरूपमें आज देशके सभी क्षेत्रोंमें आ गये हैं। इनमेंसे कुछ मोटे उदाहरण ये हैं—

विभिन्न स्थानोंमें ऐसे गुप्त या प्रकट दलों, सेनाओं तथा संघोंका संघटन, जो आत्मरक्षाके नामपर दूसरोंका सब प्रकारका विनाश करनेके लिये अमानुषी कार्य करनेकी तैयारी करते हैं।

ऐसे शिक्षित पुरुषोंके विचार तथा क्रियाकलाप, जो दिन-रात तोड़-फोड़, विध्वंस, दूसरेके अनिष्ट तथा अहितकी योजना सोचा करते तथा बनाते रहते हैं।

ऐसे नेतागण, जो देशहितको भूलकर व्यक्तिगत स्वार्थ-साधनके लिये दूसरेका सब प्रकारका अहित करनेकी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष क्रिया करते रहते हैं।

ऐसे राजनीतिक दल जो क्षुद्र स्वार्थवश दूसरे दलोंको या अपने ही दलके मतभेद रखनेवालोंको नीचा दिखाने और गिरानेकी चेष्टामें लगे रहते हैं।

ऐसे विभिन्न दलोंके तथा संघोंके प्रभावशाली लोग, जो तोड़-फोड़, विध्वंस तथा हिंसाके लिये जनताको एवं विद्यार्थियोंको उभाड़ते हैं और उनमें अनुशासनहीनता तथा पर-नाश-परायणताकी दुष्प्रवृत्ति उत्पन्न करके उनसे अवाञ्छनीय राष्ट्रके अहितका कार्य कराया करते हैं।

ऐसे स्वार्थी तथा परसुखद्वेषी लोग, जो सम्पत्तिमें, मकानोंमें तथा मोटरों, बसों एवं ट्रकोंमें आग लगाते-लगवाते, सम्पत्ति लूटते-लुटवाते, हिंसा करते-करवाते, सरकारी राष्ट्रीय सम्पत्ति (जैसे रेलवेकी सम्पत्ति) आदिको हानि पहुँचाते-पहुँचवाते, स्थान-स्थानपर दंगा करते-करवाते, उच्छृङ्खलता-उद्दण्डता-क्रूरता-हिंसाकी बड़ी सराहना करके उनका स्वयं आचरण करते—दूसरोंसे करवाते एवं विरोधी व्यक्तियोंकी हत्या करते-करवाते हैं।

विभिन्न असत् हेतुओंसे प्रायः सभी क्षेत्रोंमें विभिन्न विविध प्रकारके मिथ्याचार, अनाचार, भ्रष्टाचार, अत्याचार, दुराचार, असदाचारका प्रचार-प्रसार।

दुष्परिणाम

सर्व-सुलभ हिंदीका प्रचार, राष्ट्रभाषाके रूपमें हिंदी-स्वीकार, विदेशी भाषा अंग्रेजीके अबाध विस्तारकी अनावश्यकताका प्रचार, देशकी दूसरी-दूसरी प्रादेशिक भाषाओंका उन-उन स्थानोंमें समादर तथा प्रचार एवं उनके साहित्यका विस्तार, हिंदी तथा देशके सभी भाषा-भाषियोंमें परस्पर सहयोगपूर्ण सद्व्यवहार आदि कार्य सभी उपयोगी और आदरणीय हैं; परंतु उपर्युक्त कारणोंसे इन उपयोगी कार्योंके प्रसङ्गोंमें इधर ऐसी-ऐसी अवाञ्छनीय दुर्घटनाएँ हुई और हो रही हैं, जिनका परिणाम सभीके लिये विध्वंसकारी, देशकी एकता तथा प्रेमका घोर बाधक हो गया है। दक्षिणप्रदेशोंमें कई जगह शिक्षालयोंसे हिंदी हटा दी गयी है। देवनागराक्षरोंमें लिखे संस्कृतके श्लोक—देवनागरी लिपिको हिंदी मानकर मिटा दिये गये। नेताओंका अपमान किया गया। रेलवे-विभागकी पचीस लाखसे ऊपरकी हानि कर दी गयी। इधर उत्तरप्रदेश आदिमें भी जगह-जगह बड़ी अवाञ्छनीय घटनाएँ हुई, रेलवेके डिब्बे यहाँ भी जलाये गये और इनके करनेवालोंमें देशके भावी नागरिक हमारे परम आशास्थल छात्र अधिकांशमें रहे, जिन्होंने अनुशासनहीन तथा अविवेकी बनकर ये सब कुकार्य किये। इससे न हिंदीका प्रचार बढ़ा, न अंग्रेजीका विस्तार बढ़ा। बढ़ा केवल द्वेष और कलह! हुआ सन्मति तथा सम्पत्तिका विनाश और विध्वंस एवं बढ़ी मनमें अशान्ति और चिन्ता!

भारतमें सभी प्रान्तोंमें एक-दोको छोड़कर सभी भाषाओंकी मूल आधाररूपा भाषा संस्कृत है। भारतीय आर्योंकी एक संस्कृति है, एक धर्म है, एक शास्त्र है। उत्तरसे दक्षिण और पूर्वसे पश्चिम—सभी दिशाओंमें धर्मशास्त्रोंके श्लोक सभी संस्कृतमें हैं। उचित तो यह था

कि भारतकी स्वतन्त्रताके साथ ही भारतीय संस्कृतिके आधार संस्कृतकी उन्नति तथा विस्तार होता, उसके स्थानपर उसकी लिपि देवनागरी होनेसे उसे हिंदी समझा जाता है और उसपर भी प्रहार हो रहा है ! बेचारे संस्कृतके विद्वान् चुपचाप बैठे हैं अविवेकपूर्ण । वे शान्तहृदय पण्डित क्या करें ? (अच्छा तो होता, संस्कृतको ही भारतकी राष्ट्रभाषा बना दिया जाता ।)

हिंदुओंके अधिकांश 'आचार्य' दक्षिणमें अवतरित हुए और प्रधान 'अवतार' उत्तरमें । पर सारे भारतकी दसों दिशाओंमें अवतार और आचार्य समानरूपसे सम्मान्य तथा पूज्य हैं । उनकी पूजा-पद्धति, वेद, श्रुति-स्मृति, मन्त्र-स्तोत्र, पुराण, कर्मकाण्ड-पद्धतियाँ, महाभारत, रामायण आदि इतिहास, नाटक, चम्पू, काव्य, व्याकरण सभी संस्कृतमें हैं और सर्वमान्य हैं । पर आज सनातन आर्य-संस्कृतिकी क्रमशः विस्मृति और 'स्व'के अत्यन्त संकोचके कारण भाषा, भूमिसीमा, जाति, वाद आदिके नामपर हम उसी संस्कृतिकी अवहेलना करते और आप ही अपने शत्रु बनकर अपना विनाश करनेमें लगे हैं ! यह स्थिति बड़ी ही शोचनीय है और इसपर गम्भीरतासे ध्यान देकर शीघ्र कुछ उपाय सोचनेकी आवश्यकता है । नहीं तो, देशका ध्वंस कैसे बच सकेगा ?

सरकारकी दूषित विचार-धारा

इस सनातन विश्वमानव-धर्मके प्रति अश्रद्धा और असम्मानके कारण ही हमारे सेक्यूलर राज्यकी नीतिमें—उसके कर्णधारोंके मस्तिष्कमें कुछ ऐसी अवाञ्छनीय विचार-धाराएँ और योजनाएँ आ गयी हैं, जो उन्हें विपरीत दिशासे ले जा रही हैं—जैसे स्वराज्य-प्राप्तिके पूर्व गोहत्या कानूनन सर्वथा बंद करनेकी बार-बार घोषणा करनेपर भी अबतक गोहत्या बंद न करना । मांसाहारको प्रोत्साहन देना । स्थान-स्थानपर नये-नये वैज्ञानिक कसाईखाने खोलनेकी योजना बनाना, किसी-न-किसी हेतुसे जान-अनजानमें सनातनधर्मके प्रसार-प्रचारमें सहायक न होकर उसका विरोध या प्रतिरोध करना । धर्मनिरपेक्षिताके नामपर विश्व-कल्याणकारी सनातनधर्मका आदर न करके उससे द्रोह-सा करना, हिंदूशास्त्रोंके विरुद्ध कानूनका निर्माण करना, जैसे भ्रूणहत्याको कानूनसे वैध बनाने जाना । धार्मिक शिक्षाकी व्यवस्था न करना आदि ।

दंगे, हत्या, विध्वंस

इस सनातनधर्मके ह्रासके कारण ही स्थान-स्थानपर एक ही राष्ट्रमें परस्पर दंगे, मार-काट, लूट-पाट, आगजनी, हत्याकाण्ड आदि बढ़ रहे हैं । बेंगलोर तथा मेरठ आदिके दंगे, हत्याकाण्ड और असमके कुछ स्थानोंके साथ ही गौहाटीका भयानक पैशाचिकता तथा क्रूरतापूर्ण प्रलयकाण्ड इसके ज्वलंत उदाहरण हैं ।

गौहाटीका विध्वंस-काण्ड

गत २६ जनवरी (स्वतन्त्रताप्राप्ति) के मङ्गल-दिवसपर गौहाटी असममें जो असाधारण अमङ्गलमय विध्वंस-काण्ड हुआ—राजस्थानी, उत्तरप्रदेशीय, पंजाबी, सिन्धी, बिहारी आदि हिंदुओंकी दूकानें लूटी गयीं; सम्पत्ति जलायी गयी; दर्जनों मोटरकारों, बसों, ट्रकोंमें आग लगायी गयी; समीपके ही विजयनगर नामक नये बसे स्थानपर २६-२७ घंटेतक लगातार लूट-मार होती तथा आग लगायी जाती रही । स्वतन्त्रताके दिन—जिस दिन चारों ओर सजी-धजी मिलिटरी रहती है—यह अमानवीय काण्ड पुलिसके सामने कागज-कलमसे कर्फ्यू लगनेके बाद भी घंटोंतक होता रहा । उपद्रवियोंपर लाठी-चार्ज, अश्रु-गैस या गोली छोड़नेकी तो बात दूर रही, सामने खड़ी पुलिसने उन्हें रोकनेतककी कोई चेष्टा ही नहीं की । घंटोंमें करोड़ोंकी सम्पत्ति लुट गयी या स्वाहा हो गयी ! सबेरेके लखपति-करोड़पति शामतक कंगाल हो गये । कई लोग ४० करोड़की हानि हुई बताते हैं । सरकारी सूत्रोंके अनुसार १५ करोड़से भी अधिककी हानि मानी गयी है । साढ़े सात करोड़की हानि तो 'स्टेट बैंक'को हुई बतायी जाती है । शान्तिप्रिय व्यापारी नागरिकोंकी इस प्रकारकी घृणित विनाशक्रिया कुछ घंटोंमें हो जाय और सरकार उसकी रक्षामें सर्वथा असमर्थ साबित हो—ऐसी सरकारको सरकारके पदपर रहनेका क्या अधिकार है ? तीन दिनोंतक तो कोई गिरफ्तारी ही नहीं हुई ।

कहा जाता है कि इस भयानक उपद्रवमें चीन-पाकिस्तानका हाथ था । यह सम्भव भी है । पर उस दिन उन उपद्रव करनेवालोंमें कोई बाहरकी फौज तो थी ही नहीं, वे तो वहींके गुंडे थे । उन गुंडोंसे ही जब सरकार नागरिकोंके जान-मालको नहीं बचा सकी और अब उसके अधिकारी कापुरुषकी भाँति दुःख प्रकट करके अपने कर्तव्यकी इतिश्री कर रहे हैं, वे फौज आनेपर तो करते ही क्या ? देशका दुर्भाग्य है, जो ऐसे अशक्त अथवा किन्हींके मतानुसार देशहितविरोधी लोगोंके

हाथमें असमका शासन रहा। अब केन्द्रको दृढ़ताके साथ इस प्रकारकी व्यवस्था करनी चाहिये, जिससे भविष्यमें ऐसी कोई दुर्घटना न हो। असमके गैर-असमी लोग अत्यन्त भयभीत हैं, उन्हें भयमुक्त करना सरकारका परम कर्तव्य है तथा उन लोगोंको स्वयं भी संगठित होकर ऐसी स्थिति पैदा कर देनी चाहिये, जिससे गुंडोंके मनमें विध्वंस करनेकी कल्पना ही न उठ सके!

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

यज्ञद्वारा प्रदर रोगकी सफल चिकित्सा

(लेखक—डॉ० श्रीपन्नालालजी गर्ग, एम्० ए०, एम्० डी० एच्०, अध्यक्ष परिवार-कल्याण प्राच्य-प्रविधि संस्थान, रायबरेली)

यात्यर्थं सेवते नारी लवणाम्लगुरूणि च।
कट्वन्यपि विदाहीनि स्निग्धानि पिशितानि च॥
ग्राम्यौदकानि मेधानि कृशरां पायसं दधि।
शुक्तमस्तुसुरादीनि भजन्त्याः कुपितोऽनिलः॥
रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः शिराः।
रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः॥

(चरक)

'जो स्त्री अत्यधिक मात्रामें लवण, अम्ल, गुरु, कटु, विदाही, स्निग्ध, ग्राम्य, औदक, मेध, मांस, खिचड़ी, खीर, दहीका पानी, मदिरा आदिका सेवन करती है, उसके शरीरमें कुपित हुई वायु रक्तको अपनी मात्रासे अधिक उत्पन्न कर देती है और रजोवाही शिराओंमें आश्रित होकर तथा अपनी मात्रासे बढ़े हुए रक्तको लेकर रजको भी बढ़ा देती है। जो अस्वाभाविक रूपसे बाहर फूट-फूटकर आने लगता है, इसे सामान्य रूपसे 'प्रदर' कहा जाता है।'

सारांश यह है कि मिथ्याहार-विहारसे सर्वप्रथम वायु विगड़ती है और वह कफको दूषित कर उसे बाहर निकालती है। ऐसी अवस्थामें स्राव श्वेत वर्णका होता है। जब पित्तके तेजसे वही कफ विदग्ध हो जाता है तो निकलनेवाला रक्त दुर्गन्धियुक्त पिच्छिल और पीला होता है। कुपित हुई वायु कभी-कभी वसा, मेदाको लेकर चर्बीके समान श्वेत वर्णका स्राव उत्पन्न करती है। इसे 'श्वेत प्रदर' कहा जाता है।

इस प्रकारके स्रावमें विविध प्रकारके जीवाणुओंका संक्रमण सुगमतासे हो जाता है। उनके संक्रमणसे योनिमार्गमें शोथ अर्थात् Vaginitis होकर वहाँसे स्रावकी मात्रा बढ़ जाती है। इस प्रकारके स्रावमें ई० कोलाई (E. Coli) स्ट्रेप्टोकोकाई, स्टेफली-कोक्काई, ट्राइकोमोनस वैजिनेलिस, कैनडिडा ऐलविकन्स या अन्य किसी फफूंद (fungus) का संक्रमण आसानीसे हो जाता है।

रज और वीर्यको शुद्ध करनेके लिये वैदिक कालसे ही यज्ञकी व्यवस्था की गयी थी। पुत्रेष्टि-यज्ञके द्वारा रज-वीर्यके शुद्ध करनेका विधान उस समयके प्रजनन-विज्ञान एवं चिकित्साविज्ञानकी परमोत्कृष्ट पद्धति थी। श्रेष्ठ ही नहीं, सर्वश्रेष्ठ संतानोत्पत्तिके लिये यज्ञ सबसे अचूक एवं प्रशस्त साधन माना जाता था।

आर्षपद्धतिके अनुसार सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणोंको प्रभावित करनेसे स्थूल परिवर्तन लाया जा सकता है। इस पद्धतिके अनुसार उन ओषधियोंकी आहुति दी जाती थी, जिनके सूक्ष्मकण पीयूषग्रन्थि (Pituitry Gland) को इस तरहसे प्रभावित करते थे कि उनके अंदरसे इतने सुन्दर हार्मोन-रसोंका नियमित रूपसे उत्सर्जन होने लगता था, जिससे केवल शरीर ही नीरोग नहीं हो जाता, प्रत्युत उनमें इतने सुन्दर दैवीगुणोंका भी समावेश हो जाता था कि उनसे जो संतति उत्पन्न होती थी, वह राष्ट्रनायक, लोकनायक ही होकर समाप्त नहीं हो जाती थी। प्रत्युत विश्ववन्द्य एवं विश्वपूज्य होती थी, जिसपर केवल इस संसारके लोग ही पुष्पवर्षा नहीं करते थे, देवतागण भी उनपर पुष्प चढ़ाते थे। भगवान् राम और भगवान् कृष्ण इसी वसुन्धरा-के जीवित उदाहरण हैं।

एलोपैथिककी सभी कीटाणुनाशक ओषधियोंके सम्बन्धमें सभी डाक्टरोंका मत है कि वे बिना शरीरको हानि पहुँचाये कीटाणुका नाश कर ही नहीं सकती हैं, जबकि हमारी यज्ञपद्धतिद्वारा ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणोंका उत्सर्जन होता है, जिनसे हानि पहुँचानेवाले कीटाणु अपने-आप समाप्त हो जाते हैं और शरीरके भीतरकी कुपित वायुका भी शोधन इतने सरल ढंगसे हो जाता है, जिससे स्राव अथवा शोथ भी अपने-आप शान्त हो जाते हैं।

इसीलिये जब कुपित वायुकी शान्तिके लिये अनेकानेक ओषधियोंके सेवनसे भी प्रदर रोग नहीं जा पाता है, तब यज्ञ-चिकित्साके सात्त्विक एवं सुखद प्रयोगमात्रसे ही प्रदर-ऐसे असाध्य रोगकी शान्ति हो जाती है।

निम्नाङ्कित ओषधियोंके हवन बराबर करते रहनेसे मेरा अपना अनुभव है कि प्रदरके साथ-साथ सिरदर्द तथा हृदयरोगके पुराने-से-पुराने रोग भी इस प्रकार लुप्त हो जाते हैं, जैसे कि सूर्यके प्रकाशसे तिमिरका नाश हो जाता है। इन ओषधियोंका सीधा प्रभाव देहके परमाणुओंकी उन इकाइयोंपर पड़ता है जो कि महत्तत्त्वके नामसे जानी जाती हैं और जिनके ही संक्षोभमात्रसे आधि, व्याधि और रोगका जन्म होता है।

इसलिये यजुर्वेदकी घोषणा है कि 'यज्ञ निश्चयसे कल्याणकारी है। वह दीर्घ आयु, उत्तम अन्न, ऐश्वर्य, समृद्धि,सुसंतति और बल-पराक्रम प्रदान करता है (३ । ६३)। मन, वाणी, आत्मा, प्राण, ज्ञान, ज्योति, श्री, वेद, आयु यज्ञसे सम्पन्न होते हैं।' (१८ । १९)

गर्भाशयके हर प्रकारके दोषोंके निवारणार्थ—

वैदिक कालमें हवनमें गूलरकी समिधाका प्रयोग किया जाता था। अथर्ववेदमें इसे अत्यन्त पुष्टिकर बताया गया है। आधुनिक विज्ञानने भी सिद्ध किया है कि रासायनिक दृष्टिसे गूलरमें टैनिन एवं मोम होता है। इसकी राखमें फास्फोरिक एसिड और सिलिका होते हैं, जो कि गर्भाशयको शुद्ध एवं बल प्रदान करते हैं।

प्रदर रोगको दूर करनेवाली हवनकी सामग्री निम्नाङ्कित है—

(१) गूलरकी समिधा, (२) अशोक वृक्षकी छाल, (३) दारु हल्दी, (४) लोध, (५) कमल-केशर, (६) माजूफल, (७) सुगंधवाला, (८) अर्जुनकी छाल, (९) पीपलकी लाख, (१०) नाग-केशर, (११) मिश्री, (१२) तिल, (१३) नारियल, (१४) यव, (१५) काकजंघा, (१६) चिकनी सुपारी, (१७) सतावर, (१८) खस, (१९) मजीठ, (२०) मोचरस, (२१) अनारके फूल और (२२) गोघृत।

गायत्री मन्त्र या लघुमृत्युञ्जय मन्त्रसे यदि यथाशक्ति हवन किया जाय और उसकी राखको शीशेके बर्तनमें रखकर उसमें राखका चौबीस गुना गङ्गाजल भर दिया जाय एवं उस जलको केवल सुबह बासी मुँह १ तोला पान किया जाय तो गर्भाशयके कैंसर-ऐसे रोगसे भी मुक्ति मिल सकती है। प्रदर इत्यादि तो अवश्य ही अच्छे हो जाते हैं। जिन लोगोंको पुरानी खूनी या बादी बवासीर हो, वे गूलरकी समिधके स्थानपर नारियलकी जटाकी समिधाका प्रयोग करें और हवनकी राखको केवल चार आनाभर गङ्गाजलसे पी लें तो केवल २१ दिनोंमें ही बवासीर-ऐसे भयानक रोगसे छुटकारा पा सकते हैं।

यदि कोई व्यक्ति हृदयरोगसे पीड़ित हो तो इस हवनके साथ-साथ श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ३३वें अध्याय (रासपञ्चाध्यायीके अन्तिम अध्याय) का पाठ करे। पूरा पाठ न कर सके तो प्रतिदिन श्रद्धाके साथ उसके अन्तिम श्लोकका १ माला (१०८ बार) जाप करनेसे वह दिलकी धड़कन, हृदयशूल (Angina pectoris) से भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। श्लोक निम्नाङ्कित है—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥
(श्रीमद्भागवत १० । ३३ । ४०)

अन्तर मेरा उज्ज्वल कर दो !

अन्तर मेरा उज्ज्वल कर दो !
तुम प्रकाशके अमर पयोधर,
हम चातक हैं विकल पिपासित।
बरसो हे करुणामय ! बरसो,
करो विश्वको आज प्रकाशित॥
चरणोंसे कर स्पर्श हृदय-तल,
जीवन सारा जल-थल कर दो !
अन्तर मेरा उज्ज्वल कर दो !

तुमने अगणित दीप जलाये,
मेरा भी यह दीप जला लो।
अपने ज्योति-सिन्धुमें, मेरी
भी नन्हीं-सी ज्योति मिला लो॥
छल-छल छलके बाहर-भीतर
इतना मुझमें 'मंगल' भर दो !
अन्तर मेरा उज्ज्वल कर दो !

—मंगल

वे साधकके सिद्धिदाता हैं

(लेखक—श्रीरामस्वरूपजी शास्त्री 'अमर' धर्मशास्त्राचार्य)

स्वयं श्रीमुखसे श्रीकृष्ण भगवान्‌ने कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २२)

उनका प्रण है—

हम भक्तनके भक्त हमारे ।
जब जब भीर परी भक्तन पै, नंगे पाँव सिधारे ॥

वे कहते हैं—

जो जन ऊधो ! मोहि न बिसरै ताहि न बिसराऊँ पल घरी ।
मेरो ज्ञान-ध्यान नित सुमिरन अष्टसिद्धि नवनिद्धि भरी ॥
जन्म जन्मके फंदा काटूँ ले राखूँ बैकुंठ-पुरी ।
वे हमरे हम उनके ऊधो ! भक्त-काज मैं देह धरी ॥

'सा परानुरक्तिरीश्वरे ।' ईश्वरमें परानुरक्ति ही भक्ति है । इस परानुरक्ति-भक्तिके पथिक-भक्तोंको भगवान् जगत्पिता होकर भी उनकी इच्छापूर्तिहेतु पुत्र बनकर आनन्द पाते हैं । अपने साधक भक्तोंके बाधकोंका विनाश वे स्वयं करने लगते हैं । जिनका कोई नहीं है, उनके वे दीन-दयालु बन जाते हैं । जब सबकी ममताका तागा बटोरकर मनुष्य उनका अनन्य चिन्तक बन जाता है, तब तो वे साधकके सिद्धिदाता बन स्वयं ही उसके आराधक बन जाते हैं । उनका कहना है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

'जो मुझे जैसा भजता है; उसे मैं वैसे ही प्राप्त होता हूँ, भजता हूँ ।' भक्तकी भावनाके वशीभूत हो भूतभावन भगवान् न जाने किस-किसकी गोदमें मोद नहीं करते-कराते हैं । उनके भक्तोंका विनाश कभी नहीं होता; क्योंकि वे कहते हैं—'न मे भक्तः प्रणश्यति ।' भक्तके पीछे पड़नेवाले दुर्जन अपने-आप स्वकर्मवश पीछे रह जाते हैं और स्वकर्मफलको भोगकर पछिताते हैं । दीनोंकी तो दीनानाथको सर्वदा चिन्ता रही, रहती है, रहेगी । परंतु 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह वैसा ही है । उनका भक्त निर्भय-निर्मम हो कभी भी निराश्रित नहीं रहता है । भक्तोंका योगक्षेम भगवान् वहन करके उनकी विपदाओं-विडम्बनाओंको मिटा देते हैं । वे भक्त-त्रासक कुबेरोंको कबीर और अमीरोंको गरीब, धनियों-मानियोंको दो कौड़ीका जीव बना देते हैं और श्रीमद्भागवतके 'हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः' को सत्य कर देते हैं । उनके साधकका बाधक बननेवाला स्वयं मिट जाता है । महात्मा कबीर कबीर ही तो थे ? ताना-बाना बुनकर कुटुम्बका पालन-पोषण भगवदाश्रयपर करते और अपनी जीविका चलाते थे । भाग्यवशात् एक दिन उनकी नगरीमें सैकड़ों संत-साधुओंकी जमात आ गयी और उस जमातको दुष्टोंने यह कहकर कबीरके घर पहुँचा दिया कि 'वे ही समागत साधु-संतोंका सत्कार करते हैं ।' साधु उनके द्वारपर जा बैठे । कबीरजी अपनी सहधर्मिणीके समीप गये और अपनी आर्थिक बेबसीके वशीभूत हो निराश बन उसे घरमें बैठनेकी आज्ञा दे स्वयं वनमें भगवद्-भजन करने चले गये और रातको आठ बजे घर आनेकी कह गये । इधर साधुओंने जाना कि कबीर भक्त साधुओंके भोजनका प्रबन्ध करने गये हैं । जमातको बैठे-बैठे दिनके दो बज गये । योगक्षेम-वहनकर्त्ता प्रभुने जान लिया कि अब कबीर नहीं आयेगा और साधुओंकी जमात भूखी ही चली जायगी । जिससे मेरे भक्तोंकी बदनामी होगी ! बस, वे स्वयं कबीर बनकर वहाँ जा पहुँचे और हाथ जोड़कर साधुओंसे बोले कि 'मैं बाजारमें गया था और आपके भोजनार्थ सामग्री लेनेकी सोचते-सोचते लौट आया । अच्छा हो कि आप अपने साधुओंको बाजारमें मिठाईकी दूकानपर मेरे साथ भेज दें तो मैं लड्डू और पेड़ा दिलवाकर आपका भण्डारा करा दूँ ।' जमातके महन्तजीने इसे मान लिया और चार छः साधुओंको श्रीकबीरजीके साथ भेज दिया । उन्होंने दो-तीन टोकरियोंमें लड्डू और पेड़े तुलवाये और लेकर आ गये । पंगति होनेके पूर्व ही कबीरदासजीने साधुओंकी आज्ञा लेकर सारी नगरीके सभी नर-नारियों, बालक-वृद्धोंको नेवता दे दिया और पूरी नगरीके लोग तथा साधुओंने लड्डू-पेड़ोंका तृप्तिसे भोजन किया । भोजन करके ग्रामवासी गृहोंकी ओर चले गये और साधुओंकी जमात दूसरे ग्रामकी ओर चल दी । उनके जानेके बाद श्रीकबीरदास, अपनी गृहोपविष्टा धर्मपत्नीके समीप जाकर बोले कि—तुम भी भोजन कर लो ? वे बोलीं कि 'महाराज ! आप पहले खाइये तब मैं खाऊँगी ।' परंतु कबीरदासजीने परमाग्रहपूर्वक समझा-बुझाकर पहले धर्मपत्नीको थालीमें परोसकर भोजन कराया और उससे भाँति-भाँतिकी सत्संगकी

मीठी-मीठी बातें करते रहे। तदनन्तर स्वयं भी कुछ खाया। फिर वे दूकानदारका हिसाब करनेका बहाना ले चल दिये। टोकरियाँ तो मोदकों-पेड़ोंसे जैसी आयी थीं वैसी ही भरी हुई रक्खी थीं। रातमें आठ बजेके लगभग असली कबीरदासजी भूखे-प्यासे आये और अपनी पत्नीसे खानेको माँगा। वे बोलीं कि आज आप बड़े भूखे हैं। अभी खा गये। मुझे भी खिला गये! लीजिये यह और खा लीजिये। ज्यों ही उसने थालीमें लड्डू-पेड़े लाकर उनके सामने रक्खे और सभीके भोजनोंकी कथा सुनायी, त्यों ही कबीरदासजी नयनोंसे नीर बहाते हुए भक्तिविभोर हो बोले—

ना कछु हते न करि सकत, ना करिबे जोग सरीर।
जो कछु करत सो हरि करत होत कबीर कबीर॥

वह दृश्य दर्शनीय था। पति-पत्नी आनन्दविभोर थे। भगवान्ने कबीर बनकर कबीरदासजीका कार्य-साधन कर दिया। कबीरदासजी पत्नीसे कहने लगे कि 'वे साधकके सिद्धिदाता हैं।'

पढ़ो, समझो और करो

(१)

संतका शुभकार्य

हाथमें माला लेकर ईश्वरमें चित्तको पिरोते हुए वसरामगिरिजीको 'स्थान'के एक सेवकने आकर कहा—'बापजी! शोभावडलासे आया हुआ एक पटेल बाहर बैठा है और कह रहा है कि 'बापजीसे काम है'.....'

अङ्गपर फटे-टूटे मोटे चिथड़े लपेटे एक दयाजनक चेहरेवाले किसानके समीप बैठकर आचार्यने कहा—'क्या बाबा, मेरे लायक काम-काज?'

उत्तरमें किसानकी आँखोंसे दड़-दड़-दड़ आँसुओंकी धारा चल पड़ी।

'अरे अरे, इतना बड़ा क्या गजब हो गया? रोना आ गया? ऐसे कौनसे दुःख हैं भाई?'

'शोभावडलाके जेठा ठक्करके कर्जसे छुटकारा नहीं मिलता।'

'पहले यह बताओ, कर्ज सच्चा है या झूठा?'

''आधा सच्चा, और बापजी! आधा झूठा। जो माल उसकी दूकानसे हमने कभी नहीं लिया, वह उसने अपनी बहीमें हमारे नाम लिख रक्खा है और आज सच्चे मोती-जैसे अनाजके ढेरपर आकर कहता है कि 'यह सारा अनाज मेरे कर्जमें आ गया।''

वसरामगिरिने नीचेकी ओर देखा तथा किसान आगे कहने लगा—'घरवाली तथा बच्चोंने चिलचिलाती धूपमें हल चलाकर पत्थर तोड़कर जमीन कोड़कर उसमें खाद डाली और खेत तैयार किया। महँगे बीज तथा खाद पूरी कीमत देकर खरीदे। रात-दिन एक करके किसी तरह अनाज पैदा किया और उस अनाजको देखकर आज जेठा ठक्कर कहता है कि 'यह मेरा है।' वह अनाज ले जायगा तो हम राजका लगान कहाँसे भरेंगे; लगान नहीं भरा जायगा तो जमीन चली जायगी, फिर खायेंगे क्या?'

'अच्छा भैया! तुम यहाँ स्थानपर रुको। मैं जेठा ठक्करको यहाँ बुलाता हूँ।'

'बापजी! स्थानका अन्न—धर्मस्थानका अन्न मुझसे नहीं खाया जायगा, मैं भूखा पड़ा रहूँगा।'

'अरे नहीं भैया! नहीं, जांबुड़ाके इस स्थानमें अनाज तुम-जैसे परिश्रमी लोगोंका निपजाया हुआ आता है, ठाकुरजी उनमें निवास करके भिजवाते हैं, इसे प्रभुका प्रसाद समझकर पा लेना। अनाजका तिरस्कार करना बड़ा पाप है।'

वसरामगिरिजीने उसी क्षण शोभावडला गाँवको जेठा ठक्करके बुलानेके लिये चिट्ठी लिखकर भेजी।

जेठा ठक्कर एक जबरदस्त और धनी व्यापारी था। चारों ओरके गाँवोंके लोग इसके बहीखातोंमें थे। बड़े-बड़े काल-जैसे बरछी-भाला रखनेवाले सोरठी लोगोंकी जमीनें जेठा ठक्करके कब्जेमें रहतीं और उनपर उसके हल चलते। ऐसा विकट व्यापारी एक ही चिट्ठीसे स्थानपर आ जायगा, वसरामगिरिने भी यह नहीं माना था, पर उसे चिट्ठी समीपमें ही मिली और मिलते ही वह स्थानपर आ गया।

जिसकी भारी मूँछोंसे भरा क्रूर चेहरा और गलेकी बुलंद आवाज ही कर्जदारोंको डरानेके लिये बस थी, ऐसा

जेठा ठक्कर स्थानके बाहर घोड़ीपर जीन छोड़कर अंदर आकर बोला—

'क्यों ? क्या कर रहे हैं बाबा वसरामगिरिजी ?'

एक हाथसे माला फिराते हुए शान्त और सौम्य वसरामगिरिजीने बैठे-बैठे ही उत्तर दिया—

'आओ, भाई आओ ! सिर-माथेपर आओ ।' 'अरे, कोई इनकी घोड़ीको बाँध दो ।'

इस समय वहाँ दूसरा कोई नहीं था, अतः बात शुरू की ।

'कैसे चिट्ठी लिखनी पड़ी बाबाजी ?'

'एक कामसे ।'

'कहो, हम तो तुम्हारे ही हैं न ?'

'ईश्वरको मानते हो ?'

'कैसे नहीं ? मानना ही पड़ता है; हम तो स्वयं रघुवंशी भगवान्‌के वंशज हैं ।'

'ईश्वर कण-कणमें, धरतीमें, आकाशमें सर्वत्र हैं—यह स्वीकार करते हो न ?'

'यह तो बिना पढ़ा-लिखा भी समझता है, बाबाजी ! हम तो व्यापारी हैं—पढ़े-लिखे । यह बात भी क्या हमको समझानी पड़ेगी ?'

'बहुत अच्छी बात है, जो ऐसा न समझाना पड़े । तब यह जानकारी भी होनी चाहिये कि मनुष्य भला या बुरा जो कुछ भी आचरण करता है, सबके श्रीहरि साक्षी हैं—और जानकार हैं ।'

'हाँ, बाबाजी, मैं यह भी जानता हूँ ।'

'मनुष्यको धोखा दिया जा सकता है । क्या ईश्वरको भी धोखा दिया जा सकता है ?'

'नहीं ।'

'तुमसे ऐसा काम होता हो तो ?'

'नहीं होता ।'

'हुआ है ।'

'सबूत ?'

'शोभावडलाके कुछ किसानोंके नाम तुमने बहीखातेमें कितनी रकम झूठी लिखी है, कितनी सच्ची लिखी है ?'

सेठ कुछ देर चुप रहे, कुछ गम्भीर-से हो गये । उत्तर नहीं दे सके । वसरामगिरिके हाथकी मालाके मणके सरके जा रहे थे । उनकी निर्मल तेजकी धारा बहाती आँखें जेठा ठक्करकी ओर लगी थीं ।

'झूठे तो हैं बाबाजी !'

'यह धर्म है या पाप ?'

'पाप ।'

'तुम भगवान्‌के वंशज होकर, जान-बूझकर पापके पथपर चलते हो ?'

'बाबा······'

'इतना ही बस नहीं है, एक पाप दूसरे पापको पैदा करता है । झूठे कर्जकी रकमको न भर सकनेवाला एक जीव नहीं, इसके आश्रित सभी जीवोंकी शापधारा तुमपर बरसेगी ।'

'सच बात है बाबाजी ।'

'सच-सच कहते जाना है या इसका निवारण करना है ?'

'निवारण करना है ।'

'कोई उस शोभावडलावाले गरीब किसानको तो बुला लाओ ।'

स्थानके सेवक, उस किसानको वह जिस कोठरीमें ठहरा था, वहाँसे बुला लाया । किसान दोनोंके पास आ बैठा । बैठे-बैठे ही वह जेठा ठक्करके सामने देखते ही काँपने लगा । वसूलीके लिये निकले हुए जेठा ठक्करके साथ ही प्रसंगवश उसके बहीखाते भी थे ।

किसानको सामने देखकर उसे पहचानकर सेठने वसूली-की बही निकालकर सामने रख दी । वसरामगिरिजी यह सब देख रहे थे । पन्ने उलटते-उलटते इस किसानके खातेवाला पन्ना आ गया । सेठने तुरंत खींचकर उस पन्नेको निकाल लिया और वसरामगिरिजीके पैरोंके पास रखकर कहा—'बाबाजी ! क्षमा कीजिये । यह इस किसानका खाता है । इसमें चौथे भागका कर्ज सच्चा है, बाकी झूठा है ।'

'चौथे भागकी रकम यह किसान शोभावडला जाकर तुम्हें चुका देगा, तब तुम भरपाई कर देना ।'

'अब तो यहीं आपके चरणोंके पास ही खाता भरपाई हो गया ।' यह कहकर ठक्करने बही बंद कर दी ।

'जा भाई ! जेठा ठक्कर तेरे सारे कर्जको माफ कर रहे हैं।'

और उस गरीब किसानकी आँखें आनन्दसे भीनी हो गयीं।

फिर,···दोनोंको भोजन करानेके लिये सेवकोंको आज्ञा दी। माला फिराते हुए वसरामगिरिजी मन-ही-मन ईश्वर-प्रार्थना कर रहे थे—'हे जगत्के स्वामी ! मानवको सत्-पथपर चलाने तथा उसके हृदयकी मलिनताको हटानेके लिये मेरे हृदयमें दिन-रात बल भरते रहना।' 'अखण्ड आनन्द'।

—देवेन्द्रकुमार पण्डित

(२)

सद्व्यवहारका प्रभाव

घटना बहुत पुरानी नहीं है, कुछ वर्षों पहलेकी सच्ची घटना है। कारणवश स्थान एवं व्यक्तियोंके नाम नहीं दिये गये हैं।

दो भाई थे। बड़ा कुछ उग्र स्वभावका था तथा छोटा कुछ-कुछ भोला। छोटेके मनमें जहाँ बड़ेके लिये कुछ आदर था, तो बड़े भाईके मनमें प्रभुताका अभिमान था। पिताकी मृत्यु होनेपर रहनेवाली हवेलीके बँटवारेका प्रश्न चला। ठीक-ठीक समझौता या बँटवारा न होनेके कारण अथवा खटपटी मित्रों आदिके बहकावेमें आकर बड़े भाईने छोटे भाईपर अदालतमें मकानके लिये दीवानी दावा कर दिया। दोनों भाई, चूँकि एक ही घरमें रहते थे, इसलिये कचहरीमें भी प्रायः एक ही समय अथवा घरसे इकट्ठे ही जाया करते थे। वैसे बोलचाल बंद नहीं थी, किंतु मुकदमेके कारण आपसमें घनिष्ठता नहीं रही थी।

कचहरीमें छोटे कस्बोंमें, अर्जीनवीसोंके तख्तपोशोंपर या उनके पास ही मुवक्किल लोग बैठकर अदालतसे अपनी आवाज पड़नेकी प्रतीक्षा करते हैं। अदालतका समय १० से ४ बजेका था। लगभग १२ बजे बड़ा भाई अपने वकीलसे कुछ परामर्श आदि करने गया। उसने जल्दीमें जूते नहीं पहने और तख्तपोशके पास ही छोड़ गया। कोई एक घंटेके बाद धूपकी दिशा बदलने लगी और बड़े भाईके जूतोंपर धूप आ गयी। छोटे भाईकी नजर उन जूतोंपर पड़ी और उसने जूतोंको पास ही एक कोनेमें छायामें कर दिया, ताकि उनका धूपसे बचाव हो सके।

लगभग दो बजे बड़ा भाई लौटकर आया। उसके वकील साहब किसी दूसरी अदालतमें पेश हो रहे थे, इस लिये वह प्रतीक्षामें वहाँ बैठा रहा। वह आकर जब पुरानी जगह जूते तलाश करने लगा तो छोटे भाईने बताया कि 'उसने जूते एक कोनेमें कर दिये थे।' कारण पूछनेपर उसने बताया कि 'धूप आ रही थी। धूपसे जूते बहुत गरम हो जाते। भाईसाहब आकर पहनेंगे तो उनके पाँव व्यर्थ जल जायँगे और कष्ट होगा, इस कारण उसने छायामें रख दिये थे।'

बड़े भाईपर भगवान्‌की कृपा हुई। छोटे भाईकी इस बातका उसपर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने छोटे भाईसे कहा कि 'चलो भैया ! घर चलें।' छोटेने कहा कि 'अभी तो अदालतसे आवाज भी नहीं पड़ी, अतः घर कैसे जा सकते हैं ?' बड़ा भाई कहने लगा कि 'मुकद्दमा खारिज हो जाने दो। जब तुम्हें मेरा इतना ख्याल है कि गरम जूते पहननेसे मुझे कष्ट होगा, तो धिक्कार है मुझे कि मैं पिताजीकी छोड़ी हुई सम्पत्तिमेंसे कुछ अधिक लेनेकी चेष्टा करूँ। तुम्हें जो हिस्सा चाहे रख लेना। मुकदमेको अदमपैरवीमें खारिज या दाखिलदफ्तर हो जाने दो। मुझे हार्दिक खेद है कि ऐसे उदार भाईके होते हुए मैंने अदालतका दरवाजा खटखटाया।'

दोनों भाई खुशी-खुशी घर लौट आये और फिर इकट्ठे ही दोनोंने भोजन किया और दोनों परिवार भी उसके बाद इकट्ठे ही रहने लगे।

—मधु 'गर्ग'

(३)

आदर्श ईमानदारी

यह घटना जनवरी ६८के दूसरे सप्ताहकी है। श्रीगङ्गाजीके अंदर स्लीपर बड़े-बड़े लट्ठे, जो बहते हुए जाया करते हैं, उनकी देखभाल करनेवाले कुछ लोगोंने श्रीलक्ष्मणझूला (ऋषिकेश) की एक दूकानसे राशनका बहुत-सा सामान तथा अन्यान्य वस्तुएँ खरीदीं; जिनका मूल्य लगभग दो सौ रुपये हुए। उक्त रकमका भुगतान करनेके लिये ग्राहकोंने दस-दस रुपयेके नोट समझकर बीस नोट उस दूकानदारको दे दिये; परंतु वे नोट नयी चालके सौ-सौ रुपयेके थे। आजकल दस रुपयेके और सौ रुपयेके नोटमें आकार-प्रकारमें भारी अन्तर नहीं मालूम पड़ता है। जब वे

ग्राहक चले गये, तो एकाएक उस दूकानदारकी दृष्टि उन नोटोंपर पड़ी; तो उसने सौ-सौ रुपयेके बीस नोट देखे। इस प्रकार दो हजार रुपया देखकर तुरंत ही वह दूकान छोड़कर उन ग्राहकोंकी खोजमें दौड़ा। भगवत्-कृपासे वे ग्राहक जब मिल गये, तब उस दूकानदारने कहा कि 'आप तो हमें सौ-सौ रुपयेके नोट भूलसे देकर चले आये हैं। इसलिये ये अठारह नोट वापिस लीजिये।'

जब ग्राहकोंने अपने रुपये सँभाले, तब पता चला कि सचमुच सौ रुपयेवाले अठारह नोट अधिक चले गये थे। वे लोग उस दूकानदारके पैरोंपर गिर पड़े और कुछ रुपये उसे पुरस्कार-स्वरूप देने लगे। उस दूकानदारने कहा कि 'भाई! ऐसा क्यों करते हैं, मैंने तो अपना कर्त्तव्य, सत्य और ईमानदारीका ही पालन किया है। इसमें पुरस्कारकी कौन-सी बात है?'

उस दूकानदारकी आदर्श ईमानदारीसे वहाँपर उपस्थित सभी लोग प्रभावित हो गये। इस सत्य घटनासे सब लोगोंको ईमानदारीकी आदर्श शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

—रामनरेश दीक्षित

(४)

भगवान् महामृत्युञ्जयकी महती कृपा

२६ जून १९६७ को प्रातःकाल जैसे ही मैं आराधनासे निवृत्त होकर बाहर निकला, मेरे गाँवसे आये हुए एक संदेशवाहकने मेरे लड़के रमेशकुमारकी बीमारीका समाचार सुनाया। मैं वैद्यको साथ लेकर गाँवकी ओर चल दिया। गाँव पहुँचकर देखा तो लड़केकी दशा बड़ी ही चिन्ताजनक थी। वैद्यजीने प्रारम्भिक उपचार किया, पर दशा सुधरनेके स्थानपर और भी अधिक खराब होती गयी। शामको डाक्टर बुलवाये गये। डाक्टरने भी सूइयाँ लगायीं और दवा दी। रातको बारह बजे जब मैंने लड़केकी नाड़ी देखी तो मैं उसके जीवनसे एकदम निराश हो गया। डाक्टरको पुनः लानेकी व्यवस्था कर मैं मन-ही-मन भगवान् महामृत्युञ्जयका जप तथा उनसे करुण प्रार्थना करने लगा।

भगवान् महामृत्युञ्जयकी आराधनाका मेरा सैंतीसवाँ वर्ष चल रहा है। जब कभी मैं ऐसी विपत्तियोंसे घिरा हूँ कि जिनके निराकरणमें मानवीय शक्ति असफल हो गयी है; मैंने भगवान् महामृत्युञ्जयका ही आश्रय लिया है और उसमें मुझे इसी प्रकारका अनुभव हुआ है जैसे कि डूबते हुए अथाह सागरसे किसीने एकाएक हाथ पकड़कर किनारे लगा दिया हो। इन समस्त घटनाओंका संकलन मैंने अपने संस्मरणमें किया है। इस बार भी जैसे ही मैं भगवान् महामृत्युञ्जयसे करुण प्रार्थना कर रहा था, अन्तर्ध्वनि हुई कि 'बच्चा स्वस्थ है।' ध्यान भङ्ग हुआ। जाकर देखा लड़केकी नाड़ी ठीक स्थानमें थी। चेतना लौट आयी थी। मैंने मन-ही-मन भगवान् महामृत्युञ्जयको नमन किया।

अपने स्वार्थके लिये भगवान्को बराबर दुखाते रहनेकी घटनाओंका क्रम मस्तिष्कमें उमड़ आया; पर क्या किया जाय? जहाँपर मानवीय शक्ति असफल हो जाती है, वहींपर तो भगवान्की कल्पना सार्थक होती है और भगवान्के समक्ष मानवका अन्तर्नाद कभी असफल नहीं होता। ऐसा मेरा अपना अनुभव है।

घंटेभर बाद जैसे ही डाक्टर आये, उन्होंने रोगीकी परीक्षा की और बताया कि 'रोगी तो स्वस्थ है; पंद्रह दिनोंके लङ्घनके कारण कमजोरी है। कल (यानी दूसरे दिन) रोगीको पथ्य दे दिया जाय।' मैंने डाक्टरको बताया कि 'जिस समय उन्हें लेनेके लिये हमने आदमी भेजा था, उस समय रोगी महाप्रस्थानकी अवस्थामें था और घरके सभी आत्मीय रोने-पीटनेमें लगे थे; किंतु मेरी करुण प्रार्थनापर मेरे सबसे महान् डाक्टर (भगवान् महामृत्युञ्जय) ने आकर रोगीको स्वस्थ कर दिया है। डाक्टरको इससे महान् आश्चर्य हुआ। अन्तिम समयकी प्रतीक्षामें घरमें दूर-दूरसे जमा हुए सभी लोगोंका मन भगवान् महामृत्युञ्जयकी महती कृपा देखकर गद्गद हो उठा।

—गुरु रामप्यारे अग्निहोत्री

(५)

भारतीय नारीका आदर्श संकल्प

घटना सन् १९६३ ई० के जुलाई मासकी है। मैं राँची महिला राजकीय अस्पतालमें अपनी पत्नीका उपचार कराने गया था। मेरी पत्नीके बगलमें ही एक महिला रोगिणी थीं, जो 'पतरातू थर्मल पावर' स्टेशनके एक लिपिक श्रीनवलकिशोर श्रीवास्तवकी पत्नी थीं। उक्त अस्पतालकी प्रधान

उपचारिकाने मेरे समक्ष श्रीनवलकिशोर श्रीवास्तवको आदेश दिया कि 'आपके रोगीके शरीरमें रक्तकी अत्यधिक कमी है। आप रक्तबैंकसे रक्त लाकर नब्बे रक्तकी सूइयाँ दिलावें। शरीरमें रक्तका संचार होनेके बाद ही अन्य औपचारिक विधियाँ की जायँगी। उपचारिकाके लिखित आदेशानुसार श्रीनवलकिशोर श्रीवास्तवने मुझे रक्तबैंक चलनेका आग्रह किया। हम दोनों जानेको तैयार हुए। इसी बीच उनकी पत्नीने पूछा कि 'डाक्टर साहिबाने मेरे सम्बन्धमें क्या बतलाया?' इसपर श्रीवास्तवजीने उपचारिकाके आदेशको पूर्णरूपेण उन्हें समझाया। इसपर उनकी पत्नी, जो मृतप्राय अवस्थामें थीं, झट उठकर बैठ गयीं और उन्होंने कहा कि 'पराये शरीरका रक्त अपने शरीरमें मिश्रण करनेकी जगह पवित्र रहकर मृत्युको प्राप्त हो जाना कहीं उत्तम है।' उनके पतिने और मैंने उन्हें बहुत समझाया पर उन्होंने संकल्प कर लिया कि 'मैं मृत्युको बरण करूँगी, किंतु पराये तनका रक्त अपने शरीरमें मिश्रण नहीं करा सकती। नाथ! आप इस अधर्म-क्रियाके लिये हठ न करें। दयालु दीनबन्धुकी कृपा हुई तो धर्मपालन एवं आपकी चरणसेवाके प्रतापसे मैं रोगमुक्त हो जाऊँगी। नहीं तो पवित्र रहकर शरीरका त्याग करनेसे परमेश्वर प्रसन्न रहते हैं।'

यह कहते हुए वे अस्पतालसे विदा लेकर प्रस्थान करनेको प्रस्तुत हो गयीं। इस जटिल समस्याको लेकर श्रीवास्तवजी उपचारिकाके पास गये। उपचारिकाजीने झुँझलाकर उन्हें अस्पतालसे शीघ्र हट जानेके लिये आदेश दे दिया। श्रीवास्तवजीने सजल-नेत्र अस्पतालसे अपनी पत्नीके साथ बाहर निकलकर मुझे एक टैक्सी कार लानेको कहा; यद्यपि उनकी पत्नीको एक कदम भी चलनेकी शक्ति नहीं थी। उनके चले जानेके पश्चात् चार वर्षपर आज अकस्मात् उनका पटना महेन्द्र स्टेशनपर सपत्नीक साक्षात्कार हुआ। मैं देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि उनकी पत्नीका शरीर कायाकल्प-जैसा दिव्य दिखायी पड़ा। आरोग्यता-प्राप्तिके सम्बन्धमें पूछनेपर उनकी पत्नी श्रीराधादेवीने बताया कि 'महाशयजी, धर्मपालनके अतिरिक्त मैंने कोई उपचार नहीं किया। रुग्ण अवस्थामें भी पतिकी यथाशक्ति सेवा और परमेश्वरकी आराधनाके अतिरिक्त मैंने राँचीसे आनेके पश्चात् कोई और उपचार नहीं किया और तीन महीने बादसे ही मैं स्वयमेव आरोग्य-लाभ करने लगी। उनकी दिव्याभा देखकर ऐसी भारतीय नारीके पवित्र चरणोंमें मैं नतमस्तक हो गया।

—त्रिभुवनप्रसादसिंह

(६)

'नारायण-कवच'का चमत्कारी प्रभाव

सन् १९६२ ई०में अष्टग्रहीयोगके अवसरपर 'कल्याण'में 'नारायण-कवच' प्रकाशित हुआ था। जिस दिन मुझे अङ्क प्राप्त हुआ, उसके दूसरे दिनसे ही मैंने पूजाके समय नित्यप्रति उसे पढ़ना प्रारम्भ कर दिया तथा मेरे दो लड़के, जो उस समय लखनऊ विश्वविद्यालयमें पढ़ रहे थे और आजकल भी वहीं सर्विस कर रहे हैं, उनके पास भी लिखकर भेज दिया और कह दिया कि 'नित्यप्रति कवचका पाठ करके तभी अन्न-जल ग्रहण करना।' तबसे वे भी नित्य नियमानुसार 'नारायण-कवच' का पाठ करते हैं। उसके कुछ चमत्कारी प्रभाव नीचे लिखे जा रहे हैं।

१. एक दिन वे दोनों लड़के तथा एक और साथी गोमतीमें स्नान करने गये। उनमेंसे दो साथी तो नहाकर ऊपर खड़े हो गये और मेरा छोटा लड़का नहाने लगा। वह डुबकियाँ लगाते समय गहराईकी ओर खिसक गया और आगे बहना ही चाहता था। पुकारनेकी बहुत कुछ कोशिश करनेपर भी आवाज नहीं निकल रही थी। अकस्मात् किसी दैवी-शक्तिकी प्रेरणासे ही उसके एक साथीने देख लिया और नदीमें कूदकर उसे बाहर निकाला। इस प्रकार भगवान्ने उसके प्राणोंकी रक्षा की।

२. इसी लड़केका (जो डूबनेसे बचाया) था २१-११-६३ को तिलक चढ़ा। उसके तीसरे दिन २४-११-६३ को रातमें पड़ोसके मकानसे घुसकर चोरोंने मेरे मकानकी छतमें नकब लगाना आरम्भ किया। वही लड़का जो काफी सोनेवाला था, उस दिन १-२ बजे राततक जागता रहा। जिस कमरेमें नकब लग रही थी, उसीमें सब सामान था और बाहरसे ताला पड़ा हुआ था। नीचे मिट्टी गिरनेकी आवाज उसको सुनायी दी, तब उसने अपनी माँको जगाया। परंतु माँने कहा कि 'हम तो अभी लेटे हैं। चूहे मिट्टी गिरा रहे होंगे।' थोड़ी देरके बाद फिर मिट्टी गिरनेकी आहट मालूम हुई, तब उसने माँको काफी जोरसे जगाया। जब माँने किवाड़ खोले तबतक सेंध लग चुकी थी। चोर नीचे

उतरना ही चाहता था । उसका पैर भी दिखायी पड़ा । तबतक सभी लोग जाग गये और चोर भाग गये । इस प्रकार भगवान्‌ने धनकी भी रक्षा की और बहुत बड़ी हानिसे बचाया ।

३. इसी लड़केके विवाहमें जो २०-१-६४ को हुआ था, एक दिन स्त्रियाँ रातमें गा रही थीं । बाहर कमरेमें हम सब लोग सो रहे थे । पासमें वही लड़का भी सोया था । थोड़ी दूरपर दिया रक्खा था, परंतु न मालूम किस प्रकार दियेकी आग इसी लड़केकी रजाईमें लग गयी । सोनेवालोंको कोई पता न लगा । स्त्रियोंने जब धुआँ निकलते देखा और कपड़ा जलनेकी महँक आयी, तब सब लोगोंको जगाया । इतने समयमें कम-से-कम दो फीट रजाई जल चुकी थी, परंतु अन्य कोई हानि नहीं हुई । इस प्रकार भगवान्‌ने अग्निसे रक्षा की ।

४. एक बार मैं जूनमें फर्रुखाबाद गया । साथमें दो साथी और थे । जब वहाँसे वापस हुए तो गङ्गाको नावद्वारा पार किया । आगे रामगङ्गा पड़ती थी । रामगङ्गामें जिस घाटपर हमलोग आये वहाँ नाव न थी और यात्री पैदल ही पार हो जाते थे । मेरा एक साथी आगे चला । उसने अपनी साइकिल कंधेपर रख ली । उसके पीछे मैं चला, परंतु मैंने अपनी साइकिलको हाथसे ही उठाये रक्खा । तीसरा साथी अभी पीछे किनारेपर ही था । वह अपने कपड़े आदि सँभाल रहा था । परंतु मेरी साइकिलमें नदीकी धाराका वेग लगता था, जिसके कारण वह गहराईकी ओर भाग रही थी और मैं आगे न बढ़ पाता था । जब साइकिल काफी गहराईमें पहुँच गयी और पानी मेरी छातीके ऊपर आ गया, तब तो मैं घबराया कि अब डूब जाऊँगा अथवा कोई जल-जन्तु ही आक्रमण कर देगा तो भगवान्‌का स्मरण कर मनमें रामधुन करने लगा और साइकिल धारामें सीधी गड़ा दी और चिल्लाया कि 'मैं बहा जा रहा हूँ ।' उस समय साइकिल पानीमें खड़ी थी । केवल उसीका तथा भगवान्‌का सहारा मेरे पास था । तबतक आगेवाला साथी पार हो चुका था । उसने मेरी आवाज सुनी तो अपनी साइकिल किनारेपर फेंककर मेरी ओर दौड़ा । कम-से-कम दो-तीन मिनटतक तो मैं साइकिलके सहारे ही उस गहरे पानीमें खड़ा रहा । जब वह साथी आया, उसने मुझको खींचा और मैंने साइकिल खींची तब कहीं नदी पार हो सका । इस प्रकार जलमें श्रीनारायणजीने मेरी रक्षा की और 'जलेषु मां रक्षतु मत्स्यमूर्तिः' को चरितार्थ किया ।

५. एक मेरे मित्र हैं, जिन्होंने कई बार मेरे ऊपर उपकार किये थे । तीन साल हुए, मैं उनके यहाँ जन्माष्टमीके अवसरपर गया । उनके पास एक प्रोनोट रक्खा था, जिसमें पानेवाले तथा गवाहके हस्ताक्षर भी थे । उन्होंने वह प्रोनोट मेरे द्वारा भरवाया । मैंने भी दबावमें आकर कुछ न कहा और प्रोनोट भर दिया । उन्होंने दावा कर दिया जिसकी गवाहीके लिये मुझे तलब कराया । अब मेरी गति साँप-छछूँदरकी-सी हो गयी । कहना था कि मेरे सामने रुपये दिये गये तथा जिसके विरुद्ध कहना था वह भी मेरा एक प्रेमी था । अब इस उधेड़-बुनमें था कि यदि सत्य कहता हूँ तो कृतघ्न हुआ जाता हूँ और मित्रता समाप्त होती है, दूसरी ओर झूठ बोलूँगा (जिसका शायद जीवनमें पहली बार मौका आया था) । तो फिर झूठ बोलकर दूसरोंको मुँह कैसे दिखाऊँगा । इस ग्लानिमें रातभर नींद नहीं आयी । करवटें बदलता रहा और भगवान्‌से प्रार्थना करता रहा कि 'हे नाथ ! इस बार इस महापापसे बचाकर आप मेरी किसी प्रकार भी रक्षा करें । भविष्यमें ऐसा काम नहीं करूँगा । भगवान्‌ने मेरी प्रार्थना सुनी और पेशीके दिन वादी-प्रतिवादी दोनोंने प्रार्थना-पत्र दिया कि 'हमारी सुलह होनेवाली है कुछ समय दिया जाय ।' कुछ समय बढ़ गया, परंतु इस बीचमें भी सुलह न हो सकी और दूसरी बार भी उन्होंने मुझे फिर तलब कराया । मैंने सोचा कि अबकी बार किसी प्रकार भी इस महापापसे नहीं बच सकता । रातभर फिर भगवान्‌की प्रार्थना करता रहा और कई बार नारायण-कवचका पाठ किया । भगवान्‌की दयासे उसी रातमें मुहल्लेवालोंने प्रोनोटकी सुलह करा दी, प्रातःकाल मुझे मालूम हुआ कि सुलह हो गयी है । इस प्रकार भगवान् नारायणने मुझे झूठी गवाही देनेके महापापसे बचा लिया ।

६. जब मुझे उपर्युक्तको गवाही देनी थी, उसके पहले दिनकी रातको अँधेरेमें मेरी माँ चारपाईपर सो रही

थीं। उसी अँधेरेमें एक साँप चढ़कर उनके नीचे बैठ रहा। जब उनको अपने नीचे ठंडा मालूम हुआ तो उन्होंने हाथसे हटाना चाहा। तब साँप काटनेके बजाय रेंगकर भागा और जमीनपर गिर पड़ा। ८ बजे रातका समय था। उन्होंने पुकारा तब लड़की उजाला लेकर गयी। उसने जमीनपर साँपको रेंगते देखकर मुझे पुकारा। परंतु जबतक मैं पहुँचा, तबतक साँप रेंगकर दरवाजेके पास चूहेके बिलमें घुस चुका था। बहुत खोजनेपर भी न मिला। मैंने उसी समय गीली मिट्टीसे बिल बंद करा दिया। दूसरे दिन देखा कि गीली मिट्टीमें छेद करके साँप निकल गया था; क्योंकि साँपके आकारका ही चिह्न बना हुआ था। इस घटनाका मेरे ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा और मैंने निश्चय कर लिया था कि 'झूठ बोलनेका महापाप नहीं करूँगा और भगवान्से विनय कर रहा था कि मित्रको धोखा देना और कृतघ्नी होना भी महापाप है। इसलिये मुझ असहायको आप उबार लें।' भगवान्ने मेरी पुकार सुनी और दोनों महापापोंसे बचा लिया। भगवान् नारायणकी जय।

—शिवरतनलाल मिश्र

(७)

आदर्श निष्काम सेवा

घटना गत कार्तिक एकादशीकी है। मेरी धर्मपत्नी कार्तिक-स्नान कर रही थीं। उनकी इच्छा हुई कि एकादशीसे पूर्णिमातक गङ्गा-स्नान और भगवान्का भजन-पूजन करें।

अतएव एकादशीके दिन ही डेढ़ बजे दिनकी गाड़ीसे वे अकेली ही आरासे पटनाके लिये प्रस्थान कर गयीं। पटनामें सम्बन्धियोंको सूचना दे दी गयी थी कि उन्हें लेनेके लिये वे पटना स्टेशनपर उपस्थित रहें। बिहिटा स्टेशनपर गाड़ीके पहुँचनेपर उस डिब्बेमें काफी भीड़ हो गयी। मेरी पत्नीके आस-पास बैठे कुछ यात्रियोंने बीड़ी पीना शुरू किया। उसके धूएँसे उन्हें चक्कर आने लगे और जी मिचलाने लगा। खिड़कीके पास बैठे हुए कुछ सज्जनोंको उन्होंने संकेतसे हटनेको कहा ताकि वे खिड़कीद्वारा बाहर उल्टी कर सकें, परंतु किसीने ध्यान नहीं दिया। फलतः वे बहुत व्याकुल हो उठीं और साथ-साथ उन्हें बेहोशी भी होने लगी।

अचानक अपनेको इस निःसहाय अवस्था और ऐसी विकट परिस्थितिमें पाकर उनके मुखसे सहसा ये शब्द निकल गये—'गुरुदेव (स्वामी शिवानन्दजी महाराज) या गङ्गा मैया ! मैं तो अच्छे कामके हेतु आपमें नेह लगाकर जा रही हूँ। मैं इस विपदामें कैसे फँस गयी, मेरा उद्धार करें।' ठीक उसी समय एक यात्री उनकी व्याकुलता देखकर उनसे पूछने लगे—

'माताजी ! आप बेचैन क्यों हैं ? आपको क्या कष्ट है ?' उन्होंने किसी तरह संकेत किया कि उल्टी (कै) मालूम होती है। स्थानके अभाव और समय कम रहनेके कारण उन सज्जनने अपनी अँजुली उनके मुखसे लगा दी और बिना किसी हिचकिचाहटके अँजुलीमें उल्टी (कै) करनेको बार-बार कहने लगे। कोई दूसरा चारा न देखकर, चार या पाँच बार उनकी अँजुलीमें ही वे कै करती गयीं, जिसे वे सज्जन बार-बार साफ करते गये। दानापुर स्टेशनपर गाड़ी पहुँचनेपर, वे गाड़ीसे उतरे और अपने अँगोछेमें कुछ जल लेकर उनका मुँह साफ किया। पानीके कुछ फुहारे उनके मुखमें दिये। उनको कुछ शान्ति तो मिली, परंतु एक तो उपवासकी कमजोरी, दूसरे हिस्टीरिया रोगकी रोगिणी होनेके कारण वे बेहोश हो गयीं।

पटना पहुँचनेपर, उन सज्जनके चेष्टा करनेपर किसी तरह उन्हें होश आया। तब उन्होंने पूछा—'माताजी ! गाड़ी पटना आ गयी है, आप कहाँ उतरेंगी ?' उन्होंने धीरेसे जवाब दिया—'उतरना तो यहां है; परंतु मैं उतर न सकूँगी, मुझे गाड़ीमें ही छोड़ दिया जाय।'

उन्होंने सान्त्वना देकर, एक और साथीके सहारेसे उनको गोदमें उठाकर प्लेटफार्मपर उतारा और सारा सामान उतारकर इकट्ठा कर दिया। उन्हें अब कुछ होश हो चला था। उन सज्जनने पूछा—'माताजी ! आप पटना कहाँ जायँगी ? मैं आपको डेरेपर पहुँचा दूँगा।' उन्होंने कहा—'जाना तो है बोरिंग रोड, परंतु कुछ प्रतीक्षा की जाय। मैंने अपने सम्बन्धियोंको बुलाया है।'

भगवत्कृपासे इतनेमें ही सम्बन्धी लोग पहुँच गये। उनके आनेपर उन यात्री महोदयने सारा सामान—गलेका कीमती सुवर्ण-हार तथा कानके सुवर्ण-फूल, जो बेहोशीकी हालतमें वहीं गिर गये थे, उनके हवाले किये और सामान मिलानेको कहा। इसके बाद वे जानेकी इजाजत माँगने लगे। मेरी पत्नीने कहा—'आपने भगवान्के रूपमें मुझे इस विपदसे बचाया है—आपके उपकारका बदला मैं कैसे चुका सकूँगी ?' पता पूछनेपर पता नहीं बतलाया और वे चल दिये। धन्य है भारत-भूमि कि आज इस घोर कलिकालमें भी इस तरहके निष्काम कर्मयोगी और धर्मनिष्ठ सत्-पुरुष यहाँ विद्यमान हैं।

—गुप्तेश्वरप्रसाद एडवोकेट, आरा

'कल्याण'के आजीवन ग्राहक फिरसे बनाये जाने लगे

पहले 'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनाये जाते थे; परंतु कई कारणोंसे 'आजीवन ग्राहक' बनाना बंद कर दिया गया था। अब बहुत-से ग्राहकोंके अनुरोधसे पुनः आजीवन ग्राहक बनाना आरम्भ कर दिया गया है। नियम ये हैं—

(१) एक साथ एक सौ पचीस रुपये देनेवाले सज्जन 'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनाये जाते हैं। जो लोग इस वर्षका मूल्य ९) (नौ) रुपये भेज चुके हैं, वे शेष ११६) (एक सौ सोलह) रुपये और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते हैं।

(२) जो सज्जन प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें, उन्हें १५०) (एक सौ पचास) रुपये भेजने चाहिये।

(३) भारतवर्षसे बाहरके (विदेशके) महानुभावोंके लिये आजीवन ग्राहक-मूल्य १५०) (एक सौ पचास) रुपये या ८ पौंड १० शि० हैं। सजिल्दका १७५) (एक सौ पचहत्तर) रुपये या १० पौंड है।

(४) आजीवन ग्राहक बननेके बाद जितने वर्ष 'कल्याण' चलता रहेगा, उन्हें मिलता रहेगा। यदि 'कल्याण' बंद हो गया तो उतने वर्षोंके प्रतिवर्षके हिसाबसे मूल्यके रुपये काटकर शेष रुपये लौटा दिये जायँगे। पहले यह नियम नहीं था।

(५) आजीवन ग्राहक बननेवाले मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी संस्था तथा फर्मको तो 'कल्याण' सदा मिलनेका नियम था। पर अब यह नियम भी कर दिया गया है कि व्यक्तिका देहावसान हो जानेपर उनके उत्तराधिकारीको भी 'कल्याण' मिलता रहेगा। पहले यह नियम नहीं था।

[नियम ४ तथा ५में विशेष सुविधाएँ दी गयी हैं, ये पहले नहीं थीं।]

(६) रुपये डाकबीमासे, व्यवस्थापक 'कल्याण' तथा बैंकड्राफ्टसे या चैकसे व्यवस्थापक गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) उ० प्र० के पतेपर भेजने चाहिये।

सब प्रेमियोंसे निवेदन है कि वे स्वयं आजीवन ग्राहक बनें तथा अपने मित्र-सम्बन्धियोंको बनानेकी कृपा करें।

निवेदक—व्यवस्थापक 'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० एल्० १७५

गीताभवन-स्वर्गाश्रम-सत्सङ्गकी सूचना

ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजीकी लोककल्याणकारिणी लगन एवं उनकी मङ्गल-प्रेरणाके फलस्वरूप वर्षोंसे ऋषिकेशकी तपोभूमि गीताभवन-स्वर्गाश्रममें श्रीगङ्गाजीके पुनीत तटपर प्रतिवर्ष सहस्र-सहस्र नर-नारी सत्सङ्गका पवित्र लाभ उठाते थे। पूज्य श्रीजयदयालजीके अभावकी पूर्ति तो असम्भव है; परंतु उनके अन्तिम संकेतके अनुसार प्रतिवर्ष भगवत्कृपासे गीताभवन-स्वर्गाश्रममें सत्सङ्गका आयोजन किया जा रहा है। उसीके अनुसार इस वर्ष भी सत्सङ्गका विचार है। सबसे प्रार्थना है कि प्रतिवर्षकी भाँति ही सत्सङ्गी महानुभाव तथा माताएँ-बहिनें अधिकाधिक संख्यामें सत्सङ्गके पवित्र उद्देश्यसे ऋषिकेश पधारें। श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज और भाई हनुमानप्रसाद पोद्दारकी चैत्र शुक्ल पक्षमें वहाँ पहुँचनेकी बात है। श्रद्धेय स्वामीजी श्रीशरणानन्दजीसे भी प्रार्थना की गयी है तथा अन्यान्य महात्मागण भी पधारनेवाले हैं। सदाकी भाँति ही यह नम्र निवेदन है कि सत्सङ्गमें पधारनेवालोंको ऐश-आराम या केवल जलवायु-परिवर्तनकी दृष्टिसे न जाकर सत्सङ्गके उद्देश्यसे ही जाना चाहिये तथा वहाँ यथासाध्य नियमित तथा संयमित साधकजीवन विताते हुए सत्सङ्गमें अधिक-से-अधिक भाग लेना चाहिये।

नौकर-रसोइया आदि यथासम्भव साथ लाने चाहिये। स्वर्गाश्रममें नौकर-रसोइया मिलना कठिन है। स्त्रियाँ पीहर या ससुरालवालोंके अथवा अन्य किन्हीं सम्बन्धीके साथ वहाँ जायँ, अकेली न जायँ एवं अकेली जानेकी हालतमें कदाचित् स्थान न मिल सके तो कृपया दुःख न करें। गहने आदि जोखिमकी चीजें साथ नहीं रखनी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ ले जायँ जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेकी व्यवस्था कर सकते हों; क्योंकि बच्चोंके कारण स्वाभाविक ही सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पानकी चीजोंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जा रहा है, यद्यपि इस बार भी बड़ी कठिनता है; परंतु दूधका प्रबन्ध होना कठिन है।

'कल्याण' नामक हिंदी मासिकपत्रके सम्बन्धमें विवरण

फार्म चार—नियम-संख्या—आठ

१–प्रकाशनका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर
२–प्रकाशनकी आवृत्ति—मासिक
३–मुद्रकका नाम—मोतीलाल जालान
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर
४–प्रकाशकका नाम—मोतीलाल जालान
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

५–सम्पादकका नाम—(१) हनुमानप्रसाद पोद्दार
(२) श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
दोनोंका राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय
दोनोंका पता—गीताप्रेस, गोरखपुर
६–उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस समाचार-पत्रके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागीदार हैं। — श्रीगोविन्दभवनकार्यालय, पता—नं० १५१ महात्मागाँधी रोड, कलकत्ता (सन् १८६० के विधान २१ के अनुसार रजिस्टर्ड धार्मिक संस्था)

मैं मोतीलाल जालान, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

मोतीलाल जालान
प्रकाशक

दि० १ मार्च १९६८